

JAINA BHĀSĀ DARSANA

[जैन भाषा-दर्शन]

PROF. SAGAR MAL JAIN



BHO GILAL LEHERCHAND INSTITUTE OF INDOLOGY
DELHI (Extension Centre Patan)

B. L. Series No. 3

JAINA BHĀṢĀ-DARŚANA

[JAINA PHILOSOPHY OF LANGUAGE]

by

Prof. Sagar Mal Jain

Director

P. V. Research Institute, Varanasi-5



BHOGILAL LEHERCHAND INSTITUTE OF INDOLOGY
DELHI (Extension Centre Patan)

Published by
Pratapbhai Bhogilal
B. L. Institute of Indology
22th Km., G. T. Karnal Road
Delhi

First Edition : 1986

Price Rs. 50.00

Printed by
Babulal Jain Phagulla
Mahavir Press
Bhelupur, Varanasi-10

डुन डलषल-दरुनल

लेखक

डुडु सलगरडल डुन

नलदुशलक

डलरुवुनलथ वलदुडलशुडड शुडध संसुथलन, वलरलणसुडु-ॡ

डुडुगुललल लेहुरकनुद डलरतुडु संसुकुतल संसुथलन
दललुलु-डलटण

प्रकाशक

प्रतापभाई भोगीलाल

भो० ले० भारतीय संस्कृति संस्थान

२२ वाँ किमी०, जी० टी० करनाल रोड,

दिल्ली

प्रथम संस्करण : १९८६

मूल्य रु० ५०.००

मुद्रक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

महावीर प्रेस,

भेलूपुर, वाराणसी-१० (उ० प्र०)

जैन-विद्या की अनन्य उपासिका
महत्तरा साध्वी श्री मृगावतीश्रीजी
एवं
जैनदर्शन के मूर्धन्य विद्वान्
पं० दलसुखभाई मालवणिया
को
सादर समर्पित

भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान ने अपनी व्याख्यानमाला योजना के अन्तर्गत डा० सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५ को आमंत्रित किया था। डा० जैन ने सर्वथा नवीन और अस्पर्शित विषय “जैन भाषा-दर्शन” पर २७, २८ एवं २९ सितम्बर, १९८३ को संस्थान में विद्वत्तापूर्ण एवं बोधगम्य तीन व्याख्यान दिये। उनके व्याख्यानों को एक ग्रन्थ के रूप में पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए आज हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस मंगल-वेला पर हम संस्थान के मार्गदर्शक पं० दलमुखभाई मालवणिया के भी आभारी हैं जिनके कारण संस्थान की विविध योजनाएँ मूर्तरूप ले रही हैं। हम डा० सागरमल जैन तथा पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के संचालक एवं अधिकारी वर्ग के भी आभारी हैं क्योंकि प्रस्तुत कृति के मुद्रण आदि कार्य उनके सहयोग से ही वाराणसी में पूर्ण हुए हैं। इस अवसर पर संस्थान के भू० पू० निदेशक डा० बी० एम० कुलकर्णी के भी हम आभारी हैं जिन्होंने इन व्याख्यानों का आयोजन किया था। अंत में हम महावीर प्रेस के भी आभारी हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को सुन्दर ढंग से मुद्रित किया।

प्रताप भोगीलाल



SETH BHOGILAL LEHERCHAND

Born: 9th April, 1883

Died: 7th December, 1979

MOTTO IN LIFE

'Simple living — High thinking'

लेखकीय

पं० दलमुखभाई मालवणिया के निर्देश पर भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान, पाटण ने मुझे सन् १९८३ में तीन व्याख्यान देने हेतु आमंत्रित किया तथा व्याख्यान के विषय का निर्णय भी स्वयं मुझ पर ही छोड़ दिया। यद्यपि इन व्याख्यानों के हेतु जैन तत्त्वज्ञान, जैन तर्कशास्त्र और जैन आचारशास्त्र के किसी भी पक्ष का चयन किया जा सकता था किन्तु मैंने सोचा कि इन सब विषयों पर काफी कुछ कहा जा चुका है। अतः किसी ऐसे विषय का ही चयन किया जाये जो समकालीन दर्शन की समस्याओं से सम्बन्धित होकर जैन दार्शनिकों के चिन्तन की महत्ता को स्पष्ट कर सके। भाषा-विश्लेषण समकालीन दर्शन-जगत् की एक प्रमुख विधा है। अतः मैंने जैन भाषा-दर्शन पर ही अपने व्याख्यान तैयार करने का निर्णय लिया। प्रस्तुत ग्रन्थ इन्हीं व्याख्यानों का कुछ परिवर्धित रूप है। अपने इस अध्ययन में मुझे जो सर्वाधिक संतोष मिला वह यह कि समकालीन भाषा-विश्लेषण के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व भी जैन चिंतक विचार कर चुके हैं। आज जिसे हम समकालीन दर्शन की नवीन विधा कहकर प्रस्तुत कर रहे हैं वह दो सहस्र वर्ष पूर्व भी भारतीय दार्शनिक चिंतन का एक सुविचारित विषय थी। प्रस्तुत ग्रन्थ जैन भाषा-दर्शन पर प्रथम ग्रन्थ है। मेरी मान्यता है कि अभी इस क्षेत्र में तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन की दृष्टि से गम्भीर चिंतन और लेखन की अपेक्षा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मैंने मात्र तुलना के संकेतसूत्र ही दिये हैं और मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में इसे आधार बनाकर अधिक गंभीर और तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत होंगे। व्याख्यान की अपनी सीमा और काल-मर्यादा होती है। अतः विषय से सम्बन्धित अनेक पक्षों को या तो स्पर्श ही नहीं कर पाया हूँ या उन्हें सूत्ररूप में ही प्रस्तुत कर पाया हूँ। जैन आगम साहित्य में भगवती, प्रज्ञापना और अनु-योगद्वार सूत्र से लेकर उपाध्याय यशोविजय (१७ वीं शताब्दी) के 'भाषारहस्यप्रकरण' तक इस विषय पर जैनाचार्यों ने पर्याप्त चिन्तन किया है और लिखा है। यह ग्रन्थ तो मात्र दिशा संकेतक है।

पुनः मैं अपने ज्ञान और अध्ययन की अपनी सीमाओं को जानता हूँ अतः यह दावा नहीं करता हूँ कि जैन भाषा-दर्शन के सम्बन्ध में यहाँ जो कुछ कहा गया है वही एक मात्र एवं अन्तिम व्याख्या है। विद्वत् वर्ग के सुझाव एवं मार्गदर्शन का सदैव स्वागत है। पाश्चात्य भाषा-विश्लेषण का भी मैं कोई अधिकारी विद्वान् नहीं हूँ, अतः इस सम्बन्ध में मेरे टिप्पण भी अग्रिम चर्चा के विषय बनाये जा सकते हैं और बनाये जाने चाहिए।

प्रस्तुत कृति के प्रथम अध्याय में भाषा-दर्शन के विकास और जैन भाषा-दर्शन की समस्या के सम्बन्ध में विचार किया गया है, साथ ही इस अध्याय में भाषा-दर्शन के पूर्वरूप विभज्यवाद की चर्चा की गयी है। ग्रन्थ का दूसरा अध्याय मुख्यरूप से भाषा की उत्पत्ति, विचार और भाषा के सम्बन्ध, भाषा के प्रकार और भाषा के मूल उपादानों पर विचार करता है। साथ ही इस अध्याय में लिपि के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। तीसरा अध्याय शब्द के स्वरूप, शब्द की पौद्गलिकता, शब्द की अनित्यता, शब्द और उसके वाच्यार्थ के सम्बन्ध, नामकरण की पद्धति, शब्द का

वाच्य जाति या व्यक्ति आदि पर विचार करता है। इसी अध्याय में स्फोटवाद और अपोहवाद की अवधारणा और उसकी समीक्षा भी प्रस्तुत की गयी है। साथ ही आकृतिवाद और जैन-दर्शन के सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। अध्याय चार मुख्यरूप से वाक्य के स्वरूप से सम्बन्धित है। इसमें वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक मतों और उनकी समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। इसी अध्याय में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद के स्वरूप की चर्चा की गयी है। अध्याय पांच में वाच्यार्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में जैन दर्शन के नय और निक्षेप के सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है। अध्याय छः में भाषा की वाच्यता-सामर्थ्य तथा अवक्तव्य के स्वरूप पर विचार किया गया है। अध्याय सात भाषा और सत्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। इस अध्याय में इस प्रश्न पर भी विस्तार से चर्चा की गयी है कि किस प्रकार के भाषायी कथन सत्यता और असत्यता की कोटि में आते हैं और किस प्रकार के भाषायी कथन सत्यता और असत्यता की कोटि से परे हैं। इस प्रकार प्रस्तुत कृति में जैन भाषा-दर्शन के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

इस कृति के प्रकाशन की इस वेला में सर्वप्रथम मैं भोगोलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान के संस्थापक श्री प्रतापभाई एवं तत्कालीन निदेशक डा० वी० एम० कुलकर्णी का आभारी हूँ, जिन्होंने न केवल इन व्याख्यानों का आयोजन किया अपितु इन्हें ग्रन्थरूप में प्रकाशित करने का भी निर्णय लिया। इस सब के मूल में पं० दलमुखभाई मालवणिया की प्रेरणा ही मुख्य है, अतः इस अवसर पर उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में परामर्श और दार्शनिक पत्रों में छपे मेरे लेखों "सत्ता कितनी वाच्य, कितनी अवाच्य", "विभज्यवाद : आधुनिक भाषा-विश्लेषण का पूर्वरूप", "जैन दर्शन में ज्ञान और कथन की सत्यता का प्रश्न" के अंश भी यथावत् रूप में या कुछ परिवर्तन के साथ लिये गये हैं इसकी अनुमति के लिए मैं दोनों पत्रों के सम्पादकों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ।

इस अवसर पर स्वामी श्री योगीन्द्रानन्द जी के प्रति श्रद्धा एवं कृतज्ञता ज्ञापित करना भी मेरा पुनोत कर्तव्य है, जिन्होंने ग्रन्थ की भूमिका लिखने की महती कृपा की। यह पूज्य पिता श्री राजमल जी मातु श्री गंगावाई के आशीर्वाद एवं पत्नी कमला के सहयोग का परिणाम है कि यह ग्रन्थ निर्विघ्न रूप से पूर्ण हो सका। साथ ही पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान का नीरव वातावरण एवं समृद्ध ग्रन्थागार भी ग्रन्थ-प्रणयन के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं, अतः उसके मंत्री श्री भूपेन्द्र-नाथजी एवं अन्य सभी कर्मचारी भी धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रेस कापी तैयार करने एवं प्रूफ-संशोधन में मुझे अपने सहयोगी एवं शोध-छात्रों डा० भिखारीराम यादव, डा० अरुण प्रताप सिंह, डा० रविशंकर मिश्र आदि का भी सहयोग प्राप्त हुआ है, श्री महेश कुमार जी ने इसकी शब्द-सूची एवं विषयसूची तैयार की, अतः इन सबका आभारी हूँ। मैं उन ज्ञात-अज्ञात मित्रों का भी स्मरण करना चाहूँगा जिन्होंने मेरे व्याख्यानों के अवसर पर परिचर्चा में भाग लिया और अपने विचारों से लाभान्वित किया तथा अन्य किसी रूप में इस कृति के प्रणयन में सहयोग दिया।

सागरमल जैन

अनुक्रमणिका

अध्याय १ विषय-प्रवेश

१-११

आत्माभिव्यक्ति प्राणीय प्रकृति १; आत्माभिव्यक्ति का साधन : भाषा १; भाषा और भाषा-दर्शन २; पाश्चात्य चिन्तन में भाषा-दर्शन का विकास २; भारतीय चिन्तन में भाषा-दर्शन का विकास ४; जैन भाषा-दर्शन की समस्याएँ ५; जैन परम्परा में भाषा-विश्लेषण का एक प्राचीन सन्दर्भ ५; विभज्यवाद : समकालीन भाषा-दर्शन का पूर्वरूप ९.

अध्याय २ भाषा और लिपि

१२-२७

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण १२; भाषा की उत्पत्ति के अन्य सिद्धान्त और जैनदर्शन १३; विचार और भाषा १५; भाषा के प्रकार १७; अक्षरात्मक भाषा के प्रकार १९; अनक्षरात्मक भाषा २०; भाषा के मूल उपादान २१; अक्षर/वर्ण की परिभाषा २१; अक्षर के भेद २२; स्वर और व्यंजन २३; मातृकाक्षर २४; लिपि २४.

अध्याय ३ जैन शब्द-दर्शन

२८-५८

भाषा और शब्द २८; शब्द की परिभाषा ३०; भाषायीज्ञान में अर्थबोध की प्रक्रिया ३०; क्या भाषा रूप में परिणत शब्द पौद्गलिक ही है? ३३; शब्द की आण्विक संरचना का सिद्धान्त ३४; शब्द की अनित्यता ३६; शब्द अर्थ कैसे पाता है ३७; शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण (नामकरण) ३८; वर्ण संख्या के आधार पर ३८; चेतना लक्षण के आधार पर ३८; जातिवाचक अथवा व्यक्तिवाचक होने के आधार पर ३८; त्रिविधनाम ३९; द्रव्य, गुण और पर्याय के आधार पर ३९; लिङ्ग के आधार पर ३९; चतुर्विधनाम ३९; पञ्चविधनाम ३९; षड्विधनाम ४०; सप्तविधनाम ४०; अष्टविधनाम ४०; नवविधनाम ४१; दशविधनाम ४१; अनेकार्थक शब्दों के वाच्यार्थ निर्धारण की समस्या ४२; शब्द का वाच्य सामान्य (जाति) या विशेष (व्यक्ति) ४४; शब्द और उसके वाच्यार्थ का सम्बन्ध ४७; शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की अनित्यता ४८; स्फोटवाद पूर्वपक्ष ५०; स्फोटवाद का खण्डन ५१; अपोहवाद : बौद्धों का पूर्वपक्ष ५२; अपोहवाद की समालोचना ५३; आकृतिवाद और जैनदर्शन ५५; पद का स्वरूप ५७; शब्द, पद और वाक्य का अन्तर ५८.

अध्याय ४ जैन वाक्यदर्शन

५९-७२

जैनदर्शन में वाक्य का स्वरूप ५९; वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत और उनकी समालोचना ६०; आख्यात पद ही वाक्य है ६०; पदों का संघात वाक्य है ६१; सामान्य तत्त्व (जाति) ही वाक्य है ६२; वाक्य अखण्ड इकाई है ६३; क्रम-

वाद एवं उसकी समीक्षा ६३; बुद्धिगृहीत तात्पर्य ही वाक्य है—इस मत का स्वरूप एवं समीक्षा ६४; आद्य पद (प्रथम पद) ही वाक्य है—इस मत का स्वरूप एवं समीक्षा ६४; साकांक्ष पद ही वाक्य है ६५; वाक्य के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण ६५; वाक्यार्थ बोध सम्बन्धी सिद्धान्त ६६; अभिहितान्वयवाद पूर्वपक्ष ६६; वाक्यार्थ के आवश्यक तत्त्व—आकांक्षा ६७; योग्यता ६७; सन्निधि ६७; तात्पर्य ६७; अभिहितान्वयवाद की समीक्षा ६८; अन्विताभिधानवाद पूर्वपक्ष ६९; अन्विताभिधानवाद की समीक्षा ७०.

अध्याय ५ वाच्यार्थ निर्धारण के सिद्धान्त : नय और निक्षेप ७३-७९

शब्द का वाच्यार्थ और नय ७३; सप्तनय—नैगमनय ७४; संग्रहनय ७४; व्यवहारनय ७५; ऋजुसूत्रनय ७५; शब्दनय ७५; समभिरूढनय ७६; एवंभूतनय ७६; निक्षेप सिद्धान्त ७७; नामनिक्षेप ७७; स्थापनानिक्षेप ७८; द्रव्यनिक्षेप ७८; भावनिक्षेप ७८.

अध्याय ६ भाषा की वाच्यता सामर्थ्य ८०-८६

भाषा की वाच्यता सामर्थ्य सीमित और सापेक्ष ८०; सत्ता की वाच्यता का प्रश्न ८२; अवक्तव्यता का अर्थ ८३.

अध्याय ७ भाषा और सत्य ८७-१००

ज्ञान की सत्यता का प्रश्न ८७; कथन की सत्यता का प्रश्न ८८; जैन दर्शन में कथन की सत्यता का प्रश्न ९०; सत्य भाषा ९१; असत्य भाषा ९३; सत्य-मृषा कथन ९४; असत्य-अमृषा कथन ९६; असत्य-अमृषा भाषा के प्रकार—आमन्त्रणी ९६; आज्ञापनीय ९६; याचनीय ९६; पृच्छनीय ९७; प्रज्ञापनीय अर्थात् उपदेशात्मक भाषा ९७; प्रत्याख्यानीय ९७; इच्छानुकूलिका ९७; अनभिग्रहीता ९७; अभिग्रहीता ९७; संदेहकारिणी ९७; व्याकृता ९८; अव्याकृता ९८; भाषायी अभिव्यक्ति की सापेक्षिक सत्यता ९८.



अध्याय १

विषयप्रवेश

आत्माभिव्यक्ति प्राणीय प्रकृति

प्रत्येक प्राणी की यह सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को दूसरे प्राणियों के सम्मुख प्रकट करता है और इस प्रकार दूसरों को भी अपने ज्ञान, अनुभूति और भावना का सहभागी बनाता है। प्राणी की इसी पारस्परिक सहभागिता की स्वाभाविक प्रवृत्ति को जैनाचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'^१ नामक सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया है। वस्तुतः यह पारस्परिक सहभागिता की प्रवृत्ति ही सामाजिक जीवन की आधारभूमि है। हम सामाजिक हैं, क्योंकि हम अपनी अनुभूतियों एवं भावनाओं में दूसरों को सहभागी बनाए बिना अथवा दूसरों की भावनाओं एवं अनुभूतियों में सहभागी बने बिना नहीं रह सकते। यदि किसी व्यक्ति को ऐसे स्थान पर बन्दी बना दिया जाए, जहाँ उसे जीवन जीने की सारी सुख-सुविधाएँ तो उपलब्ध हों, किन्तु वह अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को अभिव्यक्ति न दे सके, तो निश्चय ही ऐसे व्यक्ति को जीवन निस्सार लगने लगेगा और सम्भव है कि वह कुछ समय पश्चात् पागल होकर आत्महत्या कर ले। केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु पशुपक्षी भी बिना आत्माभिव्यक्ति के जी नहीं सकते हैं। संक्षेप में—जैनदर्शन के अनुसार आत्माभिव्यक्ति के माध्यम से दूसरों को अपनी अनुभूति और भावनाओं का सहभागी बनाना और दूसरों की अभिव्यक्तियों के अर्थ को समझकर उनकी अनुभूति और भावनाओं में सहभागी बनना—यह प्राणीय प्रकृति है। अब प्रश्न यह उठता है कि अनुभूतियों और भावनाओं का यह सम्प्रेषण कैसे होता है ?

आत्माभिव्यक्ति का साधन : भाषा

विश्व के समस्त प्राणी अपनी भावनाओं एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति दो प्रकार से करते हैं—१. शारीरिक संकेतों के माध्यम से और २. ध्वनि-संकेतों के माध्यम से। इन्हीं ध्वनि-संकेतों के आधार पर ही बोलियों एवं भाषाओं का विकास हुआ है। विश्व के समस्त प्राणियों में मनुष्य इसीलिये सबसे अधिक सौभाग्यशाली है कि उसे अभिव्यक्ति या विचार-सम्प्रेषण के लिये एक विकसित भाषा मिली हुई है। शब्द-प्रतीकों—जो कि सार्थक ध्वनि-संकेतों के सुव्यवस्थित रूप हैं—के माध्यम से अपने विचारों एवं भावों को अभिव्यक्ति दे पाना, यही मनुष्य की अपनी विशिष्टता है। क्योंकि शब्दप्रधान भाषा के माध्यम से मनुष्य जितनी स्पष्टता के साथ अपने विचारों एवं भावों का सम्प्रेषण कर सकता है, उतनी स्पष्टता से विश्व का कोई दूसरा प्राणी नहीं। उदाहरण के लिए कोई भी व्यक्ति मात्र ध्वनि-संकेत या अंग-संकेत से किसी वस्तु की स्वादानुभूति की अभिव्यक्ति उतनी स्पष्टता से नहीं कर सकता है, जितनी शब्दप्रधान भाषा के माध्यम से कर सकता है। यद्यपि भाषा या शब्द-प्रतीकों के माध्यम से की गई यह अभिव्यक्ति अपूर्ण, आंशिक एवं मात्र संकेत रूप ही होती है, फिर भी अभिव्यक्ति का इससे अधिक स्पष्ट कोई अन्य माध्यम खोजा नहीं जा सका है।

१. तत्त्वार्थसूत्र, ५।२१।

भाषा और भाषा-दर्शन

हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के कुछ शब्द-प्रतीक बना लिये हैं और भाषा हमारे इन शब्द-प्रतीकों का ही एक सुनियोजित खेल है। संक्षेप में कहें तो हमने उन्हें 'नाम' दे दिये हैं और इन्हीं नामों के माध्यम से हम अपने भावों, विचारों एवं तथ्य-सम्बन्धी जानकारीयों का सम्प्रेषण दूसरों तक करते हैं। उदाहरण के लिए हम कुर्सी शब्द से एक विशिष्ट वस्तु को अथवा 'प्रेम' शब्द से एक विशिष्ट भावना को संकेतित करते हैं। मात्र यही नहीं, व्यक्तियों, वस्तुओं, गुणों, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के लिए एवं उनके पारस्परिक विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के लिए अथवा उन सम्बन्धों के अभाव के लिए भी हमने शब्द-प्रतीक बना लिये हैं और भाषा की रचना इन्हीं सार्थक शब्दप्रतीकों के ताने-बाने से हुई है। भाषा शब्द-प्रतीकों की वह नियमबद्ध व्यवस्था है, जो वक्ता के द्वारा सम्प्रेषणीय भावों का ज्ञान श्रोता को कराती है। भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने वाली ज्ञान की दो शाखाएँ हैं—१. भाषा-विज्ञान और २. भाषा-दर्शन। यद्यपि भाषा-विज्ञान और भाषा-दर्शन दोनों ही भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करते हैं, दोनों के अध्ययन की विषयवस्तु 'भाषा' ही है। यह भी सत्य है कि दोनों किसी भाषा विशेष को अपने अध्ययन का विषय न बनाकर भाषा के सामान्य तत्त्वों का ही अध्ययन करते हैं। फिर भी दोनों की मूलभूत समस्याएँ और अध्ययन की दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं। भाषा-विज्ञान मुख्यतः भाषा की संरचना तथा भाषा एवं लिपि के विकास का अध्ययन करता है, जबकि भाषा-दर्शन मुख्य रूप से भाषा की वाच्यता-सामर्थ्य, शब्द और उसके वाच्यार्थ का सम्बन्ध एवं कथन की सत्यता की समीक्षा करता है। इस प्रकार भाषा-दर्शन भाषा-विज्ञान से भिन्न है क्योंकि वह भाषा के सम्बन्ध में दार्शनिक समस्याओं पर ही विचार करता है, जबकि भाषा-विज्ञान मुख्यतः भाषा की संरचना एवं स्वरूप पर विचार करता है।

पाश्चात्य चिन्तन में भाषा-दर्शन का विकास

भाषा-दर्शन और भाषा-विश्लेषण वर्तमान युग में दर्शन की प्रमुख और महत्त्वपूर्ण विचार-प्रणाली है। यदि हम पाश्चात्य देशों में दर्शन के विकास का अध्ययन करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम में प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक एवं समकालीन दर्शन-धाराओं की अपनी-अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति रही है। प्राचीनकाल में दर्शन का विवेच्य-विषय तत्त्वमीमांसा रहा है। जीवन और जगत् के मूलभूत उपादानों की खोज ही प्राचीन ग्रीक-दर्शन की मूलभूत प्रवृत्ति थी। उस युग में दार्शनिक चर्चा के मूलभूत प्रश्न थे—परमतत्त्व क्या है? कैसा है? इस जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई? जगत् के मूलभूत उपादान कौन-कौन से हैं? आदि-आदि। पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में दूसरा मोड़ ईसाई धर्म की स्थापना के पश्चात् आया। इसका काल ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक है। इस युग में दर्शन धर्म के अधीन हो गया और उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ईश्वर और शास्त्र का प्रामाण्य सिद्ध करना हो गया। ईश्वर के स्वरूप और अस्तित्व को सिद्ध करना ही इस युग की मुख्य दार्शनिक प्रवृत्ति थी। इस युग में श्रद्धा प्रधान और तर्क गौण बन गया था। पश्चिमी दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में तीसरा मोड़ देकार्त और स्पिनोज़ा से माना जा सकता है, जब दर्शन को धर्म की अधीनता से मुक्त कर वैज्ञानिक तर्क-पद्धति पर अधिष्ठित किया गया। यद्यपि ये दार्शनिक भी मूलतः तत्त्वमीमांसा प्रधान ही रहे। इस युग में दर्शन का वास्तविक दिशा-परिवर्तन तो लॉक और बर्कले के चिन्तन से ही प्रारम्भ

होता है। इन दार्शनिकों के सामने मूलभूत प्रश्न था कि परमतत्त्व आदि की चर्चा करने के पूर्व हम इस बात पर विचार करें कि हमारे ज्ञान की सामर्थ्य क्या है? हमारे जानने की प्रक्रिया क्या है? हम किसे जानते हैं अर्थात् हमारे ज्ञान का विषय क्या है? इस प्रकार इस युग में दार्शनिक विवेचन तत्त्वमीमांसा और ईश्वरमीमांसा से हटकर ज्ञानमीमांसा पर केन्द्रित हो गया। मानवीय ज्ञान के साधन, मानवीय ज्ञान का सीमा-क्षेत्र और मानवीय ज्ञान के विषय की चर्चा ही प्रमुख बनी। यद्यपि यह दुर्भाग्यपूर्ण ही रहा कि इन सारी चर्चाओं की अन्तिम परिणति अज्ञेयवाद और सन्देहवाद के रूप में हुई।

पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में चौथा मोड़ वर्तमान बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रारम्भ होता है। इस युग के दर्शन की मुख्य प्रवृत्ति भाषा-विश्लेषण है। इन दार्शनिकों ने यह माना कि दार्शनिक चिन्तन, विमर्श और विवेचन का आधार भाषा है। जब तक हम भाषा के स्वरूप और शब्दों के अर्थ (meaning) का सम्यक् निर्धारण नहीं कर लेते, तब तक दार्शनिक विवेचनाएँ निरर्थक बनी रहती हैं। क्योंकि हम जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ बोलते हैं और अपने विचारों को जिस रूप में अभिव्यक्त करते हैं अथवा दूसरों के विचारों को जिस रूप में समझते हैं, इन सबका आधार भाषा है। इसलिए सर्वप्रथम हमें भाषा के स्वरूप का तथा उससे होने वाले अर्थ-बोध का विश्लेषण करना होगा। भाषा-विश्लेषण के प्रमुख दार्शनिक विट्गेन्स्टीन का कथन है कि हमारे बहुत से दार्शनिक प्रश्न और तर्कवाक्य इसलिए खड़े होते हैं कि हम अपनी भाषा की प्रकृति को नहीं जानते। अनेक दार्शनिक समस्याएँ केवल इसलिए बनी हुई हैं कि हम भाषा के तार्किक स्वरूप को सम्यक् रूप से नहीं समझ पाये हैं¹। यदि हम अपनी भाषा की तार्किक प्रक्रिया को समझ लें, तो अनेक दार्शनिक समस्याएँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी। विट्गेन्स्टीन बलपूर्वक यह भी कहते हैं कि दार्शनिक समस्याएँ तभी उठती हैं, जबकि भाषा अवकाश ग्रहण कर लेती है²। समकालीन पाश्चात्य दर्शन में आज भाषा-विश्लेषण दार्शनिक चिन्तन की एक प्रमुख विधा बना हुआ है।

यद्यपि उपर्युक्त वर्गीकरण का यह अर्थ नहीं कि उन-उन युगों में दार्शनिक चिन्तन की अन्य विधाएँ पूर्णतया अनुपस्थिति थीं। ग्रीक और मध्ययुगीन पाश्चात्य दर्शन में भी ज्ञानमीमांसा के साथ-साथ भाषा-दर्शन सम्बन्धी प्रश्नों पर कुछ चर्चा अवश्य होती रही है। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू ने भाषा-सम्बन्धी दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा की है। मात्र यही नहीं, उन्होंने अनेक दार्शनिक प्रत्ययों (शब्दों) का अर्थ-विश्लेषण भी किया। उदाहरणार्थ जब सुकरात—न्याय क्या है? ज्ञान क्या है? शुभ क्या है?—इन प्रश्नों को उपस्थित करता है तो उसका मुख्य उद्देश्य इन दार्शनिक प्रत्ययों के अर्थ का विश्लेषण करना ही है। इसीप्रकार प्लेटो जब यह कहता है “अनेक विशेष वस्तुओं का एक सामान्य नाम होता है, तो हम मानते हैं कि उनमें नाम के अनुरूप एक

1. I believe, that the reason why problems are posed is that the logic of our language is misunderstood.

—Tractatus Logico Philosophicus.—Preface P. 3

2. For philosophical problems arise when language goes on holiday.

—Philosophical Investigation, 38.

आकार (Idea) निहित रहता है (रिपब्लिक, बुक १०, ४९६)। अरस्तू यह मानता है कि क्रिया का प्रयोग बिना कर्ता के नहीं होता। हम यह नहीं कहते 'बैठता है' 'चलता है' बल्कि, कहते हैं 'वह बैठता है' 'वह चलता है'। इस भाषिक विशेषता से वह यह निष्कर्ष निकालता है कि कर्ता (द्रव्यों) का स्वतंत्र अस्तित्व होता है, क्रिया का नहीं। (मेटाफिजिक्स बुक जेटा, अध्याय १)। इसी प्रकार बर्कले यह मानता है कि—सामान्य धारणा के विपरीत भाषा का मुख्य उद्देश्य केवल विचारों का सम्प्रेषण ही नहीं अपितु अन्य उद्देश्य भी हैं, जैसे भावना को उभारना, किसी क्रिया के लिए प्रेरित करना या अवरुद्ध करना, मन में किसी प्रवृत्ति को उत्पन्न करना आदि (उद्धृत—Introduction to logic—Copy p. 33)।^१ हमारे उपर्युक्त वर्गीकरण का अभिप्राय इतना ही है कि किस युग में दार्शनिक चिन्तन की कौन-सी विधा प्रमुख रही है। भाषा का दार्शनिक विश्लेषण पहले भी होता रहा है किन्तु तब वह केवल एक साधन माना गया था। आज भाषा-विश्लेषण दर्शन का एक मात्र कार्य बन गया है। आज दर्शन मात्र भाषा-विश्लेषण है^२। यद्यपि हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि दर्शन के क्षेत्र में जब एक विधा प्रमुख बन जाती है, तो अन्य विधाएँ मात्र उसका अनुसरण करती हैं और उनके निष्कर्ष उसी प्रमुख विधा के आधार पर निकाले जाते हैं। उदाहरण के लिए मध्ययुग में तत्त्व-मीमांसा और ज्ञानमीमांसा धर्मशास्त्र का अनुसरण करती प्रतीत होती हैं तो समकालीन चिन्तन में तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और आचार-दर्शन सभी भाषा-विश्लेषण पर आधारित हो गये हैं और भाषा-विश्लेषण के आधार पर निकाले गये निष्कर्षों के द्वारा उनकी व्याख्या होने लगी है।

भारतीय चिन्तन में भाषा-दर्शन का विकास

जहाँ तक भारतीय दर्शन का प्रश्न है, यह सत्य है कि यहाँ भी दर्शन का प्रारम्भ तत्त्व-मीमांसीय प्रश्नों से ही हुआ है। परमसत्ता, जीवन और जगत् प्रारम्भिक भारतीय चिन्तन के केन्द्र-बिन्दु रहे हैं। फिर ईसा पूर्व छठी शती से बन्धन या दुःख, बन्धन या दुःख का कारण, मुक्ति और मुक्ति के उपाय भारतीय दार्शनिक चिन्तन के आधार बने और तत्त्वमीमांसा के स्थान पर आचार-दर्शन प्रधान केन्द्र बना। किन्तु दार्शनिक चिन्तन के विकास के साथ ही ईसा की प्रथम शताब्दी से ही यहाँ ज्ञानमीमांसा और भाषा-दर्शन की विविध समस्याओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि प्राचीन भारतीय चिन्तन में भी तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय समस्याओं के साथ-साथ सत्ता की वाच्यता को लेकर भाषा-दर्शन के क्षेत्र में भी किसी सीमा तक दर्शन का प्रवेश हो गया था। भाषादर्शन की अनेक समस्याएँ भारत के दार्शनिक साहित्य में प्राचीन-काल से ही उपलब्ध होती हैं। परमतत्त्व की अनिर्वचनीयता के रूप में भाषा की सामर्थ्य एवं सीमा की चर्चा हमें औपनिषदिक चिन्तन में भी उपलब्ध हो जाती है। पाणिनि और पतंजलि ने भाषा-दर्शन सम्बन्धी अनेक समस्याओं को उद्घाटित किया है और जिनके आधार पर आगे चलकर भर्तृहरि ने पूरा वैयाकरण-दर्शन ही खड़ा कर दिया है। इतना ही नहीं, न्याय तथा मीमांसा जैसे आस्तिक दर्शनों में और बौद्ध तथा जैन जैसे नास्तिक कहे जानेवाले दर्शनों में शब्द और उसके वाच्यार्थ की समस्या, शब्द-प्रामाण्य की समस्या तथा भाषायी कथनों की सत्यता व असत्यता की समस्या पर काफी गम्भीरता से चर्चा हुई है। भारतीय दर्शन के क्षेत्र में वैयाकरणिकों का पूरा

१. द्रष्टव्य—समकालीन पाश्चात्य दर्शन (सम्पादक—डॉ० लक्ष्मी सक्सेना), पृ० १५३-५४।

२. All philosophy is critique of language. —Tractatus Logico Philosophicus 4.003.

सम्प्रदाय ही भाषा की समस्या को प्रमुख बनाकर चलता है। यह बात अलग है कि शब्द-ब्रह्म की स्थापना कर उसने अपने चिन्तन की दिशा तत्त्वमीमांसा की ओर मोड़ दी हो। बौद्धों ने अपने 'अपोहवाद' में शब्द के वाच्यार्थ के प्रश्न पर काफी गम्भीरता से चर्चा की है। इसीप्रकार वेदों के प्रामाण्य को सिद्ध करने हेतु मीमांसकों ने भाषा-दर्शन के अनेक प्रश्नों को गम्भीरता से उठाया है।

जहाँ तक जैनों के भाषा-दर्शन का प्रश्न है, चाहे उन्होंने शब्द की नित्यता एवं शब्द का अर्थ से सम्बन्ध आदि के सन्दर्भ में मीमांसकों, वैयाकरणों और बौद्धों के बाद प्रवेश किया हो, किन्तु वस्तुतत्त्व को अनिर्वचनीयता, कथन की सत्यता आदि भाषा-दर्शन के कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन पर प्राचीनतम जैन आगमों में भी प्रकाश डाला गया है। शब्द की वाच्यता-सामर्थ्य का प्रश्न आचारांग में उपलब्ध है। स्थानांग के १० वें स्थान में सत्य-भाषा, असत्य-भाषा की चर्चा है, प्रज्ञापना का 'भाषा-उद', अनुयागद्वार का नाम-पद भाषा-दर्शन से सम्बन्धित है। भगवतीसूत्र में भी भाषा सम्बन्धी कुछ विवेचनाएँ उपलब्ध हैं। महावीर के जीवन-काल में 'क्रियमान-कृत' के प्रश्न पर उनके ही जामातु जमाली द्वारा उठाया गया विवाद, जिसके कारण संघ-भेद भी हुआ—भाषा-दर्शन से ही सम्बन्धित था। भगवतीसूत्र के प्रारम्भ में एवं पुनः जमाली वाले प्रसंग में इस चर्चा को विस्तार से उठाया गया है। इन सभी को जैनों के भाषा-दर्शन का एक प्रमुख आधार माना जा सकता है। पुनः निक्षेप और नय की अवधारणाएँ भी आगमों में उपलब्ध हैं, इन अवधारणाओं का मूलभूत उद्देश्य भी वक्ता के कथन की विवक्षा अर्थात् वक्ता के आशय को समझना है। अतः ये अवधारणाएँ भी मूलतः अर्थविज्ञान (Science of meaning) और भाषा-दर्शन से सम्बन्धित हैं। पूज्यपाद, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र आदि जैन दार्शनिकों ने क्रमशः तत्त्वार्थवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थों में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के प्रश्न को लेकर काफी गम्भीरता से चर्चा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा-विश्लेषण की प्रवृत्ति, जो जैन आगमों में उपलब्ध है, आगे चलकर जैन न्याय के ग्रन्थों में तो काफी विकसित हो गई है। प्रस्तुत निबन्ध में हमने इन्हें सुनियोजित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

जैन भाषा-दर्शन की समस्याएँ

जैन भाषा-दर्शन की भाषा-विश्लेषण के साथ-साथ निम्न मूलभूत समस्याएँ रही हैं— भाषा की उत्पत्ति कैसे होती है? भाषा की प्रकृति एवं संरचना क्या है? भाषा अपने अर्थ का बोध कैसे कराती है? क्या शब्द और उसके वाच्यार्थ में कोई सम्बन्ध है? और यदि है, तो वह किस प्रकार का सम्बन्ध है? शब्द का वाच्यार्थ जाति है या व्यक्ति अथवा सामान्य है या विशेष? भाषा की वाच्यता की सीमा क्या है? क्या सत्ता (वस्तुतत्त्व) अनिर्वचनीय या अवाच्य है? भाषा का सत्यता से क्या सम्बन्ध है? वाक्यों, कथनों अथवा निर्णयों की सत्यता और असत्यता का आधार क्या है? वाक्य (कथन) कब सत्य होता है और कब असत्य होता है? वाक्यों के वे कौन से प्रकार या प्रारूप हैं, जो सत्यता और असत्यता की कोटि में नहीं आते हैं? आदि। प्रस्तुत निबन्ध में हम जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में इन्हीं समस्याओं को समझने का प्रयत्न करेंगे।

जैन परम्परा में भाषा-विश्लेषण का एक प्राचीन सन्दर्भ

जैन दार्शनिकों के लिए भाषा-विश्लेषण (Linguistic analysis) का प्रश्न कितना महत्त्वपूर्ण रहा है, इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जैन धर्म में महावीर के जीवनकाल में ही प्रथम

६ : जैन भाषा-दर्शन

संघभेद भाषा-विश्लेषण को लेकर हुआ। इस प्रथम संघभेद के कर्ता भी अन्य कोई नहीं, स्वयं भगवान् महावीर के भागिनेय एवं जामाता जमाली थे। विवाद का मूल विषय था—क्रियमान (Presento-continuous) का क्या अर्थ है? उसे कृत कहा जा सकता है या नहीं? महावीर की मान्यता यह थी कि क्रियमान वो कृत कहा जा सकता है, जबकि जमाली क्रियमान को अकृत कहते थे। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक में गौतम महावीर के सम्मुख यही प्रश्न उपस्थित करते हैं—

हे भगवन् ! क्या चलमान (चलते हुए) को चलित (चला), उदीर्यमान को उदीरित, वेद्यमान को वेदित, प्रहीणमान को प्रहीण, छिद्यमान को छिन्न, भिद्यमान को भिन्न, दग्धमान (जल रहे) को दग्ध (जला), म्रियमान को मृत, निर्जीर्यमान को निर्जीर्ण कहा जा सकता है ?

हाँ गौतम ! जो चल रहा है, उसे चला; जो उदीर्यमान है, उसे उदीर्ण; जो वेद्यमान है, उसे वेद्य; जो प्रहीणमान है, उसे प्रहीण; जो छिद्यमान है, उसे छिन्न; जो भिद्यमान है, उसे भिन्न; जो दग्धमान है, उसे दग्ध; जो म्रियमान है, उसे मृत और जो निर्जीर्यमान है, उसे निर्जीर्ण कहा जा सकता है।^१

इसके विपरीत जमाली की मान्यता यह थी कि कोई भी क्रिया जब तक पूर्ण नहीं हो जाती, तब तक उसे 'कृत' (हुई) नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दों में जो चल रहा है, उसे चला और जो जल रहा है, उसे जला नहीं कहा जा सकता। जमाली के द्वारा इस मान्यता को स्वीकृति देने के पीछे भी एक घटना रही हुई है—

किसी समय जमाली अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए श्रावस्ती नगर में आये। उस समय रुक्ष एवं प्रान्त आहार के कारण उनका शरीर रोगग्रस्त हो गया और उन्हें असह्य पीड़ा होने लगी। उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि मेरे लिए संस्तारक (बिछौना) बिछा दो। शिष्य उनके आदेश को मान्य करके बिस्तर बिछाने लगे, इधर प्रबल वेदना से पीड़ित हो वे बार-बार पूछने लगे कि क्या बिस्तर बिछा दिया गया है? शिष्यों का उत्तर था—बिस्तर अभी बिछा नहीं है, बिछाया जा रहा है (णो कडे, कज्जति)। बस इसी घटना ने जमाली को महावीर के 'क्रियमान कृत' के सिद्धान्त का विरोधी बना दिया। उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर जो इस प्रकार आख्यात करते हैं, प्ररूपित करते हैं कि चलमान चलित, उदीर्यमान उदीरित, वेद्यमान वेदित, प्रहीणमान प्रहीण, छिद्यमान छिन्न, भिद्यमान भिन्न, दग्धमान दग्ध, म्रियमान मृत और निर्जीर्णमान निर्जीर्ण है—वह मिथ्या है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जब तक शय्यासंस्तारक बिछाया जा रहा है, तब तक वह बिछाया गया नहीं है अर्थात् जो क्रियमान है, वह अकृत है (कज्जमाणे अकडे)। अतः चलमान चलित नहीं, अपितु अचलित है; उदीर्यमान उदीरित नहीं,

१. से नृणं भते ! चलमाणे चलिए १ ? उदीरिज्जमाणे उदीरिए २ ? वेदिज्जमाणे वेदिए ३ ? पहिज्जमाणे पहीणे ४ ? छिज्जमाणे छिण्णे ५ ? भिज्जमाणे भिण्णे ६ ? दग्धमाणे दग्धे ७ ? मिज्जमाणे मए ८ ? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ९ ?

हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ।

—भगवतीसूत्र, १/१/११।

अपितु अनुदीरित है; वेद्यमान वेदित नहीं, अपितु अवेदित है; प्रहीणमान प्रहीण नहीं, अपितु अप्रहीण है; छिद्यमान छिन्न नहीं, अपितु अछिन्न है; भिद्यमान भिन्न नहीं, अपितु अभिन्न है; दग्धमान दग्ध नहीं, अपितु अदग्ध है; म्रियमान मृत नहीं, अपितु अमृत है; निर्जीर्णमान निर्जीर्ण नहीं, अपितु अनिर्जीर्ण है।^१

वस्तुतः महावीर और जमाली के मध्य जो यह विवाद चला, उसका मुख्य आधार भाषा-विश्लेषण है। महावीर की मान्यता यह थी कि चाहे व्यवहार के क्षेत्र में क्रियमान, दग्धमान, भिद्यमान आदि क्रिया-विशेषणों का प्रयोग करते हों, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से ये भाषायी प्रयोग असंगत हैं। अंग्रेजी भाषा में जिसे हम Continuous Present कहते हैं और संस्कृत भाषा में जिसे वर्तमानकालिक कृदन्त के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं अथवा हिन्दी भाषा में—वह खा रहा है, जा रहा है, लिख रहा है आदि के रूप में जो क्रिया-पद प्रयोग करते हैं—वे वस्तुतः वर्तमान-कालिक न होकर तीनों कालों में उस क्रिया का होना सूचित करते हैं। 'मैं लिख रहा हूँ' इस वाक्य का तात्पर्य है, मैंने भूतकाल में कुछ लिखा, वर्तमान में लिखता हूँ और मेरी यह लिखने की क्रिया भविष्य में भी होगी। वस्तुतः महावीर ने उपर्युक्त व्याख्या में क्रिया के भूतकालिक पक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण माना और यह सिद्धान्त स्थापित किया कि क्रियमान को कृत कहा जा सकता है; जबकि जमाली ने उसके भविष्य-कालिक पक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण माना और क्रियमान को अकृत कहा। महावीर ने जमाली की मान्यता—कि जब तक कोई क्रिया पूर्णतः समाप्त न हो जाये, तब तक उसे कृत नहीं कहना—में यह दोष देखा कि क्रियमान-क्रिया के पूर्व समयों में कुछ कार्य तो अवश्य हुआ है, अतः उसे अकृत कैसे कहा जा सकता है? उदाहरणार्थ—यदि कोई व्यक्ति चल रहा है, तो कथन-काल के पूर्व वह कुछ तो चल चुका है अथवा कोई वस्तु जल रही है तो कथन-काल तक वह कुछ तो जल चुकी है। अतः उन्होंने माना कि वाच्यता के पूर्व के क्रिया के भूतकालिक पक्ष की दृष्टि से क्रियमान को कृत और दह्यमान को दग्ध कहा जा सकता है। व्यावहारिक भाषा में भी हम ऐसे प्रयोग करते हैं, जैसे यदि कोई व्यक्ति कलकत्ता के लिये घर से रवाना हो गया है, तो उसके

१. तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए चित्थिए पत्थिए मणोगए सांकप्पे समुप्पज्जित्था—जण्णं समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ जाव एवं परूवेइ—एवं खलु चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए, वेदिज्जमाणे वेदिए, पह्हिज्जमाणे पहीणे, छिज्जमाणे छिण्णे, भिज्जमाणे भिण्णे, दज्जमाणे दड्ढे, मिज्जमाणे मए, निज्जरिज्जमाणे निजिण्णे, तण्णं मिच्छा। इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ सेज्जा-संधारए कज्जमाणे अकडे, संधरिज्जमाणे असंधरिए। जम्हा णं सेज्जा-संधारए कज्जमाणे अकडे, संधरिज्जमाणे असंधरिए। तम्हा चलमाणे वि अचलिए जाव निज्जरिज्जमाणे वि अनिज्जिण्णे—एवं संपेहेइ, संपेहेत्ता समणे निग्गंथे सदावेइ, सदावेत्ता एवं वयासी—जण्णं देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ जाव परूवेइ—एवं खलु चलमाणे चलिए जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे, तण्णं मिच्छा। इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ सेज्जा-संधारए कज्जमाणे अकडे, संधरिज्जमाणे असंधरिए। जम्हा णं सेज्जा-संधारए कज्जमाणे अकडे, संधरिज्जमाणे असंधरिए। तम्हा चलमाणे वि अचलिए जाव निज्जरिज्जमाणे वि अनिज्जिण्णे ॥

—भगवइ (जैन विश्व भारती, लाडनू), ९/३३/२२८।

८ : जैन भाषा-दर्शन

सम्बन्ध में पूछने पर हम कहते हैं कि वह कलकत्ता गया, चाहे वह अभी कलकत्ता पहुँचा नहीं हो। इसी प्रकार पेन्ट या शर्ट के एक भाग के जलने पर हम यह कहते हैं कि मेरा पेन्ट या शर्ट जल गया। महावीर के उपासक ढंक नामक कुम्भकार ने भाषा के इस व्यावहारिक प्रयोग के आधार पर जमाली की मान्यता को असंगत बताया था।

किसी समय महावीर की पुत्री एवं जमाली की सांसारिक पत्नी प्रियदर्शना अपने श्रमणी-समूह के साथ ढंक कुम्भकार की कुम्भकारशाला में ठहरी हुई थी। ढंक कुम्भकार ने उसके साड़ी के पल्लू पर एक जलता हुआ अंगारा डाल दिया, फलतः उसकी साड़ी का एक कोना जल गया। यह देखकर उसने कहा 'मेरी साड़ी जल गई।' ढंक ने अवसर का लाभ उठाते हुए कहा—आपके सिद्धान्त के अनुसार जब तक कोई क्रिया पूरी नहीं हो जाती, तब तक वह अकृत होती है—दह्यमान दग्ध नहीं, अपितु अदग्ध है, अतः जब तक पूरी साड़ी जल नहीं जाती, तब तक आपका यह वचन-व्यवहार कि 'साड़ी जल गई' मिथ्या एवं आपके सिद्धान्त का विरोधी होगा। ढंक कुम्भकार की यह युक्ति सफल रही और प्रियदर्शना को महावीर के सिद्धान्त की यथार्थता का बोध हो गया।^१

वस्तुतः क्रियमान, दह्यमान आदि पद कार्य या क्रिया के सम्पन्न या पूर्ण होने के सूचक तो नहीं हैं, किन्तु वे उसके बिलकुल नहीं होने के सूचक भी नहीं हैं। वे यही सूचित करते हैं कि कार्य या क्रिया का कुछ भाग अवश्य सम्पन्न हो गया है। दह्यमान—यह कृदन्त पद इतना अवश्य सूचित करता है कि जलाने का कुछ कार्य अवश्य हुआ है। पुनः दह्यमान को हम वर्तमानकालिक घटना मानते हैं, किन्तु वर्तमान तो क्षण मात्र होता है। अतः क्षणिक वर्तमान में क्रिया का सतत चालू रहना सम्भव नहीं है। क्षण मात्र की अवस्थिति वाले वर्तमान की अपेक्षा से तो कोई क्रिया या तो कृत होगी या अकृत। चूँकि कथन किये जाने के पूर्व समयों में उस क्रिया का कुछ अंश अवश्य ही हो चुका है, अतः उस दृष्टि से वह कृत कही जा सकती है। जब भी उसे कहने का प्रयत्न किया जाता है, वह भूत का अंग बन जाती है अर्थात् कृत हो जाती है। वस्तुतः क्रियमान यह पद स्वयं ही वदतोव्याघात है। क्रियमान, दह्यमान आदि कृदन्त पदों का शब्दशः 'हो रहा है' 'जल रहा है'—ऐसा अर्थ स्वीकार करने का तात्पर्य है, वर्तमान को एक क्षण से अधिक मानना। किन्तु यह मान्यता स्वयं ही आत्मविरोधी है। यद्यपि 'क्रियमान' में क्रिया का जो अंश सम्पन्न नहीं हुआ है, उसकी अपेक्षा से अर्थात् भविष्य में सम्पन्न होने वाले क्रिया के अंश की दृष्टि से अकृतता है, किन्तु वह अकृतता भूतकालिक कृतता की एकान्त निषेधक भी नहीं है। सम्पन्न कार्य अंश की अपेक्षा से क्रियमानता में कृतता भी है, अतः क्रियमान को कृत कहा जा सकता है। वस्तुतः 'क्रियमान' शब्द आंशिक रूप से कृतता और अकृतता दोनों का सूचक है, अतः एकान्त रूप में उसे अकृत कहना युक्तिसंगत नहीं है। महावीर ने जमाली की 'क्रियमान अकृत है (कज्जमाणे अकडे)'—इस धारणा का जो विरोध किया, वह क्रियमान की अकृतता को एकान्त रूप से स्वीकार करने का विरोध है। इस समग्र चर्चा का सार यही है कि शब्द के अर्थ का निश्चय सन्दर्भ और प्रयोग के आधार पर किया जाना चाहिए, एकान्तिक रूप से नहीं।

१. आवश्यक निर्युक्ति—हरिभद्राय वृत्ति (मू० भा० गाथा १२६), पृ० २०८-२०९।

विभज्यवाद, समकालीन भाषा-दर्शन का पूर्वरूप

महावीर और बुद्ध के समय अनेक दार्शनिक विचारधारायें प्रचलित थीं। उस समय जैनों के अनुसार^१ १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ३२ विनयवादो और ६७ अज्ञानवादी—इस प्रकार ३६३ और बौद्धों के अनुसार ६२ दार्शनिक सम्प्रदाय^२ प्रचलित थे। बुद्ध और महावीर ने इन सबके दार्शनिक विरोधों को देखा और पाया कि ये सभी दार्शनिक मतवाद दार्शनिक जिज्ञासाओं के एकपक्षीय समाधानों पर खड़े हुए हैं और इसलिए परस्पर एक दूसरे के विरोधी बन गये हैं। उनकी दृष्टि में तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के एकपक्षीय एवं निरपेक्ष उत्तर ही मिथ्या धारणाओं को जन्म देते हैं। आत्मा नित्य है या अनित्य है? शरीर और आत्मा भिन्न हैं या अभिन्न? आदि प्रश्नों का उत्तर जब ऐकान्तिक या निरपेक्ष रूप में दिया जाता है, तो वस्तु-स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन नहीं हो पाता। विश्व को समस्त सत्ताएँ और समग्र घटनाएँ अपने आप में एक जटिल तथ्य हैं और जटिल तथ्यों का सम्यक् प्रतिपादन तो विश्लेषण की पद्धति के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए महावीर और बुद्ध ने एक ऐसी प्रणाली विकसित की, जिसमें दार्शनिक एवं व्यावहारिक जटिल प्रश्नों के उत्तर उन्हें विविध पहलुओं में विश्लेषित कर दिये जाते थे। प्रश्नों को विश्लेषित कर उत्तर देने की यह पद्धति जैन और बौद्ध परम्पराओं में विभज्यवाद के नाम से जानी जाती है। विभज्यवाद एक विश्लेषणवादी पद्धति (Analytic method) है। प्रश्नों का यह विश्लेषण ही हमें तात्त्विक समस्याओं की सही समझ दे सकता है, यही कारण था कि अनेक सन्दर्भों में बुद्ध ने समकालीन भाषा-विश्लेषकों के समान ही तत्त्व-मीमांसा का प्रत्याख्यान कर तात्त्विक प्रश्नों की आनुभविक स्तर पर ही व्याख्या करना उचित समझा और यह कहा कि जहाँ आनुभविक स्तर पर व्याख्या करना सम्भव नहीं हो, वहाँ मौन रहना ही अधिक श्रेयस्कर है। महावीर ने भी अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे तात्त्विक चर्चा या व्यावहारिक प्रश्नों के समाधान में विभज्यवादी या विश्लेषणात्मक पद्धति ही अपनायें और निरपेक्ष रूप से कोई भी कथन न करें।^३ बुद्ध भी अपने को विभज्यवादी कहते थे।^४

बौद्ध-ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय में किसी प्रश्न का उत्तर देने की चार पद्धतियाँ प्रस्तुत की गई हैं— (१) एकांशवाद—प्रश्न का एकपक्षीय या निरपेक्ष उत्तर देना, (२) विभज्यवाद—प्रश्न को विभाजित या विश्लेषित करके उसके प्रत्येक पक्ष का सापेक्ष उत्तर देना, (३) प्रतिप्रश्न—प्रश्न का सीधा उत्तर न देकर उस पर प्रतिप्रश्न कर देना और (४) अव्याकृतवाद—प्रश्न को अव्याकरणीय अर्थात् उत्तर के अयोग्य कह देना।^५ बुद्ध ने तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों के सन्दर्भ में मुख्यतः अव्याकृत-

१. स्यगडेण असीयस्स किरियावाइसयस्स, चउरासीईए अकिरिया वाइएणं, सत्तट्ठीए अण्णानिवाईणं, बत्तीसाए वेणइयवाईणं, तिण्णतिसट्ठीणं पासडियतयाणं बूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ। —नन्दिसूत्र, ८४
२. दासट्ठदिट्ठगतानि***।

—देखें, दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त

—Pali-English Dictionary, P. 156

३. भिक्खु विभज्जवायं च वियागरेज्जा ।

—सूत्रकृतांग, १।१४।२२.

४. विभज्जवादो खो अहमेत्थ माणव; नाहमेत्थ एकंसवादो ।—मज्झिमनिकाय, Vol. II पृ० ४६९ (सुभसत्त)

५. चत्तारिमानि, भिक्खवे, पञ्चव्याकरणानि । कतमानि चत्तारि ? अत्थि, भिक्खवे, पञ्चो एकंस व्याकरणीयो; अत्थि, भिक्खवे, पञ्चो विभज्जव्याकरणीयो; अत्थि, भिक्खवे, पञ्चो पटिपुच्छा व्याकरणीयो; अत्थि, भिक्खवे, पञ्चो ठपनीयो । इमानि खो, भिक्खवे, चत्तारि पञ्चव्याकरणानी ति ।

१० : जैन भाषा-दर्शन

वाद और विभज्यवाद की पद्धति को अपनाया। महावीर ने भी किसी सीमा तक इन दोनों पद्धतियों को स्वीकार किया। फिर भी परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों की दृष्टि में अव्याकृतवाद साध्य और विभज्यवाद (विश्लेषणवाद) साधन बन गया, जिससे अन्त में शून्यवाद का विकास हुआ। जबकि परवर्ती जैन दार्शनिकों ने इसी विभज्यवाद (विश्लेषणवाद) के आधार पर स्याद्वाद और सप्तभंगी का विकास किया, जिसमें अव्याकृतवाद अवक्तव्य-भंग के रूप में सप्तभंगी का एक भंग मात्र रह गया। साथ ही उस अवक्तव्यता को भी सापेक्ष रूप में ही स्वीकार किया गया। मात्र यही नहीं, जैन आचार्यों ने एकांशवादी पद्धति को अपने नय सिद्धान्त के साथ समायोजित कर उसे भी स्याद्वाद के अधीन कर लिया। जैनों के स्याद्वाद और नयवाद में किस प्रकार समकालीन भाषा-विश्लेषणवाद के तत्त्व उपस्थित हैं, इसकी चर्चा तो यथाप्रसंग हम करेंगे ही, यहाँ इस प्रास्ताविक कथन में तो मात्र इतना ही बताना चाहते हैं कि समकालीन भाषा विश्लेषण की दार्शनिक पद्धति के बीज विभज्यवाद के रूप में किस प्रकार ईसा की ६ठी शताब्दी पूर्व भी जैन और बौद्ध परम्पराओं में उपस्थित थे। विभज्यवाद का शाब्दिक अर्थ भी विश्लेषणवाद (Analytic-Method) ही है। वस्तुतः जैन और बौद्ध परम्पराओं में स्वीकृत विभज्यवाद जिसका परवर्ती विकास क्रमशः स्याद्वाद और शून्यवाद में हुआ, मूलतः विश्लेषण की पद्धति है और इस रूप में वह समकालीन पाश्चात्य भाषा-विश्लेषण का ही पूर्वरूप या अग्रज है।

विभज्यवाद को स्पष्ट करने के लिए यहाँ हम कुछ दार्शनिक और व्यावहारिक प्रश्नों को लेंगे और देखेंगे कि विभज्यवादी उसका विश्लेषण किस प्रकार करता है। मान लीजिये—किसी ने प्रश्न किया कि शरीर और चेतना (जीव) भिन्न-भिन्न हैं या अभिन्न हैं? विभज्यवादी इसका सीधा उत्तर न देकर पहले तो यह जानना चाहेगा कि भिन्नता अथवा अभिन्नता से प्रश्नकर्ता का क्या तात्पर्य है? दूसरे यह कि यह भिन्नता और अभिन्नता भी किस सन्दर्भ में पूछी जा रही है। पुनः भिन्नता से उसका तात्पर्य तथ्यात्मक भिन्नता से है अथवा वैचारिक या प्रत्ययात्मक भिन्नता से है? और यह भिन्नता भी आनुभविक जगत् के सन्दर्भ में या तात्त्विक सन्दर्भ में पूछी जा रही है। क्योंकि भिन्नता शब्द के प्रत्येक तात्पर्य के आधार पर और प्रत्येक सन्दर्भ में इस प्रश्न के उत्तर अलग-अलग हो सकते हैं। जैसे शरीर और चेतना (आत्मा) को विचार के क्षेत्र में पृथक्-पृथक् किया जा सकता है किन्तु तथ्यात्मक क्षेत्र में हम उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। वे चिन्तन के क्षेत्र में भिन्न माने जा सकते हैं, लेकिन जागतिक अनुभव के क्षेत्र में तो अभिन्न हैं, क्योंकि जगत् में शरीर से पृथक् चेतना कहीं उपलब्ध नहीं होती है। पुनः मृत व्यक्ति के सन्दर्भ में शरीर को चेतना से पृथक् माना जा सकता है, किन्तु जीवित व्यक्ति के सन्दर्भ में उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं माना जा सकता। अतः महावीर और परवर्ती जैन आचार्यों ने कहा था कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। इसी प्रकार व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र में जब यह पूछा जाये कि सोना

एकसवचनं एकं, विभज्जवचनापरं ।

ततियं पटिपुच्छेय्य, चतुत्थं पन ठापये ॥

—अङ्गुत्तरनिकाय, Vol. II पृ० ४८ (चतुक्कनिपातो रोहितस्स बग्गो पञ्च व्याकरणसुत्तं)

१. आया, भन्ते ! काये, अन्ने काये ?

गोयमा ! आया वि काये अन्ने वि काये । —भगवती, १३.७

तुलनीय—मज्झिमनिकाय, Vol. II पृ० १७५-१७७

अच्छा है या जागना अच्छा है, तो इस प्रश्न का कोई भी निरपेक्ष उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता, जब तक कि यह स्पष्ट न हो कि सोने और जागने से प्रश्नकर्ता का क्या तात्पर्य है, पुनः यह बात किस प्रसंग में और किस व्यक्ति के सम्बन्ध में पूछी जा रही है। उदाहरण के लिए, सोना कई उद्देश्यों से हो सकता है—शरीर की थकावट मिटाकर स्फूर्ति प्राप्त करने के लिए सोना अथवा आलस्यवश सोना, इसी प्रकार सोना कई स्थितियों में भी हो सकता है—रात्रि में सोना, दिन में सोना, कक्षा में सोना; पुनः सोनेवाले व्यक्ति कई प्रकार के हो सकते हैं—हिसक, अत्याचारी और दुष्ट अथवा सज्जन, सदाचारी और सेवाभावी। यहाँ किसलिए, कब और किसका—ये सभी तथ्य सोने या जागने के तात्पर्य के साथ जुड़े हुए हैं, इनका विश्लेषण किये बिना हम निरपेक्ष रूपसे यह नहीं कह सकते हैं कि सोना अच्छा है या बुरा है। शारीरिक स्फूर्ति के लिए, रात्रि में सोना अच्छा हो सकता है, जबकि आलस्यवश दिन में सोना बुरा हो सकता है। भगवतीसूत्र में जयन्ति ने जब महावीर से यह प्रश्न पूछा कि सोना अच्छा है या जागना अच्छा है? तो उन्होंने कहा था कि कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना अच्छा है, दुराचारी का सोना अच्छा है और सदाचारी का जागना अच्छा है। विभज्यवाद अन्य कुछ नहीं अपितु प्रश्नों या प्रत्ययों के अर्थ (Meaning) का विश्लेषण करके उन्हें सापेक्ष रूप से स्पष्ट करना है। अंगुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि विद्वान् (शब्दों, कथनों और प्रत्यय के) अर्थ (Right-meaning) और अनर्थ (False-meaning) दोनों का ज्ञाता होता है, जो अनर्थ का परित्याग करके अर्थ का ग्रहण करता है, वही अर्थ के सिद्धान्त (अर्थ-अभिसमय) का जानकार पण्डित (दार्शनिक) कहा जाता है।^१ बुद्ध के उपर्युक्त कथन में समकालीन भाषा-दर्शन का उत्स निहित है। जैन परम्परा भी शब्द पर नहीं, उनके अर्थ (meaning) पर बल देती है। तीर्थंकर अर्थ का वक्ता होता है।^२ आज का भाषा-विश्लेषण भी प्रत्ययों या शब्दों के अर्थ का विश्लेषण करके उन्हें स्पष्ट करता है तथा आनुभविक सन्दर्भ में उनकी व्याख्या करता है। दार्शनिक आधारों में आंशिक भिन्नता के होते हुए भी पद्धति की दृष्टि से विभज्यवाद और भाषा-विश्लेषण में समानता है और इसी आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आज से २५०० वर्ष पूर्व प्रस्तुत महावीर और बुद्ध का विभज्यवाद समकालीन भाषा-विश्लेषणवाद का पूर्वज है।



१. सुत्तत्तं, भन्ते ! साहू, जागरियत्तं साहू ?

जयति ! अत्थ एगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू, अत्थ एगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू ।

.....अहम्मिया.....जीवाणं सुत्तत्तं साहू ।.....धम्मिया जीवाणं जागरियत्तं साहू । —भगवतीसूत्र, १२।२

२. अथो अत्थे अनत्थे च उभमस्स होति कोविदो ।

अनत्थं परिवज्जेति अत्थं गण्हाति पण्डितो ।

अत्थाभिसमया धीरो पण्डितो ति पवुच्चतीति ॥

—अङ्गुत्तरनिकाय, Vol. II पृ० ४८

(चतुक्कनिपात, रोहितस्स वग्गो, पञ्चब्याकरणसुत्तं)

३. अत्थं भासइ अरहा ।—आवश्यक नियुक्ति, १९२

अध्याय २

भाषा और लिपि

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण

जहाँ तक भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न है, यह कहना अत्यन्त कठिन है कि भाषा का प्रारम्भ कब हुआ और किसने किया। जैन साहित्य में भी भगवान् ऋषभदेव को लिपि का आविष्कर्ता बताया गया है, भाषा का नहीं।

जहाँ तक भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न है, हमें जैन साहित्य में कहीं भी ऐसा उल्लेख देखने में नहीं आया, जिसमें यह बताया गया हो कि भाषा का प्रारम्भ अमुक व्यक्ति या अमुक समय में हुआ। जैन आगम प्रज्ञापनासूत्र में भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न उठाया गया है, उसमें गौतम ने महावीर के सम्मुख भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में निम्न चार प्रश्न उपस्थित किये हैं—(१) हे भगवन् ! भाषा का प्रारम्भ कब से है (२) भाषा की उत्पत्ति किससे होती है (३) भाषा की संरचना (संस्थान) क्या है और (४) उसका पर्यवसान कहाँ है ?

इन प्रश्नों में प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए महावीर ने कहा—‘भाषा का प्रारम्भ जीव (प्राणी जगत्) से है’।^१ महावीर का यह उत्तर वर्तमान युग की भाषा वैज्ञानिक खोजों से प्रमाणित हो जाता है। भाषा प्राणी जगत् में ही सम्भव है। यह बात अलग है कि विभिन्न प्राणियों में अथवा मानव इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं में भाषा का स्वरूप भिन्न-भिन्न रहा हो, परन्तु इतना निश्चित सत्य है कि प्राणी जगत् के अस्तित्व के साथ भाषा का भी अस्तित्व जुड़ा हुआ है। भाषा आत्माभिव्यक्ति का साधन है और यह आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति सभी प्राणियों में पाई जाती है। सभी प्राणी आत्माभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट प्रकार के ध्वनि संकेतों अथवा शारीरिक संकेतों का प्रयोग करते हैं। जैन चिन्तकों ने भाषा को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया है—(१) अक्षरात्मक भाषा और (२) अनक्षरात्मक भाषा^२। जैन दर्शन में मनुष्यों की भाषा को अक्षरात्मक और मनुष्येतर प्राणियों तथा अत्यल्पवय के बालकों एवं मूक मनुष्यों की भाषा को अनक्षरात्मक भाषा के रूप में मान्य किया गया है।^३ आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि पशु-पक्षी-जगत् में अपनी आत्माभिव्यक्ति के लिए ध्वनि एवं शारीरिक संकेतों का उपयोग होता है, अतः

१ भासा णं भंते ! किमादिया, किपवहा, किसंठिया, किपज्जवसिया ? गोयमा ! भाषा णं जीवादिया, सरीर-प्पभवा, वज्जसंठिया लोगतं पंज्जवसिया पणत्ता ।

—प्रज्ञापना, भाषापद

२. भाषा लक्षणो द्विविधः साक्षरोज्ज्वरश्चेति ।

—सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थ-टीका), ५।२४।२९४।१२.

३. अक्खरगया अणुवधादिदिय सण्णिपंचिदिय पज्जत्त भासा । तत्थ अणक्खरगया बीहंदिप्यप्पहुडि जाव असण्णिपंचिदियाणं मुहसमुष्मुदा बाल मुअसण्णिपंचिदिय भासा च ।

—भवला, १३।५-५-२६।२२१।१०.

जैन दार्शनिकों की यह मान्यता कि पशु जगत् में भी अव्यक्त रूप में भाषा की प्रवृत्ति पाई जाती है, समुचित सिद्ध होती है। भाषा का तात्पर्य संकेतों के माध्यम से भावों का सम्प्रेषण है। चाहे कितने ही अस्पष्ट रूप में ही क्यों न हो, पशुओं में भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है। अतः जैन विचारकों की यह मान्यता समुचित है कि विश्व में जब से प्राणी का अस्तित्व है, तभी से भाषा का अस्तित्व है। प्रज्ञापना के उपर्युक्त कथन का तात्पर्य ही यह है कि भाषा के आदि का प्रश्न प्राणी जगत् के 'आदि' के प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है और उससे पृथक् करके इसे नहीं देखा जा सकता है। चूँकि जैन मान्यता के अनुसार प्राणी जगत् का अस्तित्व अनादिकाल से है, अतः भाषा का प्रवाह भी अनादिकाल से चला आ रहा है। यद्यपि कालक्रम एवं देशादि के भेद से उसमें भिन्नता का होना भी स्वाभाविक है। जैनों के अनुसार रात् के स्वरूप के समान भाषा के स्वरूप को भी परिणामी-नित्य ही मानना होगा। भाषा परिवर्तनों के मध्य जीवित रहती है। उनके अनुसार भाषा का कोई सृष्टा नहीं है। वह जीवन के अस्तित्व के साथ ही चली आ रही है, फिर भी देश एवं काल-क्रम में उसमें परिवर्तन होते रहते हैं।

भाषा सादि है या अनादि है ? इस प्रश्न का समाधान जैन दार्शनिकों ने श्रुत के सादिश्रुत और अनादिश्रुत—एसे दो भेद करके भी किया है। श्रुत भाषा पर आधारित है, अतः उसके सादि या अनादि होने का प्रश्न भाषा के सादि या अनादि होने के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। यदि जैन दर्शन में अपेक्षा भेद से श्रुत को सादि और अनादि या दोनों माना जा सकता है, तो फिर अपेक्षा भेद से भाषा को भी सादि और अनादि दोनों कहा जा सकता है। किसी विशेष व्यक्ति के द्वारा या किसी देश या काल में विकसित होने की अपेक्षा से अथवा किसी प्रयत्न-विशेष द्वारा बोली जाने की दृष्टि से भाषा सादि है, किन्तु भाषा-परम्परा या भाषा-प्रवाह अनादि है। यद्यपि भाषा को अनादि मानने का तात्पर्य इतना ही है कि जब से प्राणी जगत् का अस्तित्व है, भाषा का अस्तित्व है अर्थात् संकेतों के माध्यम से भावों एवं विचारों के सम्प्रेषण का कार्य होता रहा है। यह बात अलग है कि आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि से इस पृथ्वी पर किसी काल विशेष में जीवन का प्रारम्भ माना जाता है, किन्तु विश्व में जीवन के अस्तित्व को अनादि मानकर हम भाषा को अनादि मान सकते हैं, यद्यपि देश और कालगत परिवर्तन भाषा के स्वरूप को परिवर्तित करते हैं।

भारतीय दर्शन में मीमांसक वेद को नित्य और वैयाकरणिक वर्ण ध्वनि को क्षणिक मानकर भी स्फोट (अर्थबोधक-सामर्थ्य) को नित्य मानते हैं और उस आधार पर भाषा को अनादि मानते हैं। दूसरी ओर नैयायिक शब्द को प्रयत्नजन्य और जगत् को सृष्ट मानते हैं और इस आधार पर भाषा को भी सादि या ईश्वर-सृष्ट मानते हैं। जबकि जैन सामान्य भाषा अर्थात् संकेतों की अर्थ-बोध सामर्थ्य को नित्य मानकर भी भाषा विशेष को सादि या अनित्य मानते हैं।

भाषा की उत्पत्ति के अन्य सिद्धान्त और जैनदर्शन :

भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं। किन्तु इनमें प्राचीनतम सिद्धान्त भाषा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त है, जो यह मानता है कि भाषा की रचना ईश्वर के द्वारा की गई है। भारतीय दर्शनों में न्याय-दर्शन भाषा को ईश्वर के द्वारा सृष्ट मानता है। ईसाई एवं इस्लाम धर्मों में भी भाषा को ईश्वर द्वारा सृष्ट बताया गया है। यद्यपि मीमांसक दार्शनिक शब्द को अनादि मानने के कारण भाषा को भी अनादि बताते हैं। शब्दाद्वैतवादियों ने शब्द को

ही ब्रह्म मानकर भाषा को अनादि माना है। फिर भी उनकी अनादि की कल्पना जैनों की अनादि की कल्पना से भिन्न है। जैनों का अनादि से आशय मात्र इतना ही है कि भाषा का प्रारम्भ कब से हुआ, यह बता पाना कठिन है। उन्होंने भाषा को ईश्वर-सृष्ट नहीं माना है। जैनों के अनुसार भाषा की उत्पत्ति ईश्वर से नहीं अपितु जीव-जगत् या प्राणी-जगत् से है। जैन चिन्तकों के अनुसार भाषा की बहुविधता ही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि भाषा ईश्वर-सृष्ट न होकर जीव-सृष्ट है। जीव-जगत् की विविधता ही भाषा की विविधता का आधार है। यद्यपि यह आश्चर्यजनक है कि डा० भोलानाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक 'भाषा-विज्ञान' में जैनों को भी भाषा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को माननेवाला बता दिया है। इसके लिए उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है—वही उनके कथन को असंगत सिद्ध कर देता है। वे लिखते हैं—जैन लोग तो संस्कृत पंडितों और बौद्धों से चार कदम आगे हैं। उनके अनुसार तो अर्द्धमागधी केवल मनुष्यों की ही मूल भाषा नहीं, अपितु सभी जीवों की मूलभाषा है। '...और जब महावीर स्वामी इस भाषा में उपदेश देते हैं तो क्या दैवी योनि के लोग और क्या पशुपक्षी—सभी उस उपदेश का रसास्वादन करते थे'। डा० भोलानाथ तिवारी की अवधारणा वस्तुतः जैन परम्परा को सम्यक् रूप से नहीं समझ पाने के कारण है। जैनों ने यह कभी नहीं माना है कि अर्द्धमागधी सभी जीवों की मूल भाषा है। जैन दार्शनिकों के अनुसार सभी प्राणियों की अपनी-अपनी भाषा होती है और तीर्थंकरों के उपदेश को वे अपनी-अपनी भाषा में ही समझते हैं, न कि अर्द्धमागधी भाषा में। समवायांगसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "भगवान् अर्द्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं। उनके द्वारा बोली गई वह अर्द्धमागधी भाषा आर्य, अनार्य आदि द्विपद (मनुष्य), मृग, पशु आदि चतुष्पद, सरिसृप और पक्षी सभी की अपनी-अपनी हितकर, कल्याणकर और सुखकर भाषा में परिणत हो जाती है"^१ अर्थात् वे सभी उसे समझकर अर्थबोध प्राप्त कर लेते हैं। इससे इतना स्पष्ट है कि उन सबकी अपनी-अपनी अलग भाषा है, यद्यपि यह एक भिन्न प्रश्न है कि वे उसे अपनी भाषा में किस प्रकार समझते हैं? इसका सम्भाव्य उत्तर यही हो सकता है कि तीर्थंकर कुछ ऐसे ध्वनि संकेतों और शारीरिक संकेतों और मुद्राओं का प्रयोग करते थे, जिससे वे उनके कथन के आशय को समझ लेते थे। आज भी मानव व्यवहार में ऐसे अनेक ध्वनि संकेत और शरीर संकेत हैं, जिनका अर्थ अन्य भाषा-भाषी ही नहीं, पशु-पक्षी भी समझ लेते हैं। पुनः दिगम्बर परम्परा तो तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि को अक्षरात्मक न मानकर अनक्षरात्मक ही मानती है^२। अतः जैनों के अनुसार न तो कोई ईश्वर जैसी सत्ता है, जो भाषा की सृष्टि करती है, न तीर्थंकर ही भाषा के सृष्टा हैं। भाषा ईश्वर-सृष्ट न होकर प्राणी-सृष्ट है तथा प्रवाह रूप से अनादि है। इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैनमत नैयायिकों से भिन्न है।

भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में भाषा-वैज्ञानिकों में दूसरे सिद्धान्त—धातु-सिद्धान्त, निर्णय-सिद्धान्त, ध्वनि-अनुकरण-सिद्धान्त, मनोभाव-अभिव्यक्ति-सिद्धान्त, इंगित-सिद्धान्त आदि प्रचलित हैं। यद्यपि इनमें से कोई भी सिद्धान्त भाषा की उत्पत्ति की निर्विवाद व्याख्या दे पाने में समर्थ नहीं है। वस्तुतः भाषा एक विकासमान एवं गत्यात्मक प्रक्रिया है। उस पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। इसलिए केवल किसी एक सिद्धान्त के आधार पर उसकी उत्पत्ति को सिद्ध नहीं किया जा

१. भाषा विज्ञान (भोलानाथ तिवारी), पृ० २८।

२. समवायांग, ३४।१

३. अनक्षरात्मको द्वीन्द्रयादिशब्दरूपो दिव्यध्वनिरूपश्च।

—पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति, ७९।१३५।७

सकता। जैनियों के अनुसार भाषा—अर्थसंकेत और अर्थबोध—जीव के प्रयत्नों का ही परिणाम है और ये प्रयत्न देश, काल और परिस्थिति के अनेक तथ्यों से प्रभावित होते हैं। जैन-दर्शन अनेकान्त-वाद का समर्थक है और इसलिए एकान्तरूप से किसी एक अवधारणा को अन्तिम मानकर नहीं चलता। निष्कर्ष रूप में भाषा ईश्वर-सृष्टि न होकर अभिसमय या परम्परा से निर्मित होती है। उसके अनुसार भाषा कोई ऐसा तथ्य नहीं है, जो बना बनाया (रेडीमेड) मनुष्य को मिल गया हो। भाषा बनती रहती है, वह स्थित नहीं, अपितु सतत रूप से गत्यात्मक (डायनमिक) है। वह किसी एक व्यक्ति की, चाहे वह ईश्वर हो या तीर्थंकर हो, रचना नहीं है, अपितु कालक्रम में परम्परा से विकसित होती है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही एक ऐसा सिद्धान्त है, जो जैनों को मान्य हो सकता है।

विचार और भाषा :

यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि क्या भाषा के बिना विचार या चिन्तन सम्भव है? सामान्यतया यही माना गया है कि चिन्तन के लिए भाषा या शब्द का व्यवहार आवश्यक है। कोई भी चिन्तन बिना भाषा या शब्द व्यवहार के सम्भव नहीं है। जैन दर्शन में, भाषा और विचार के पारस्परिक सम्बन्ध के इस प्रश्न को, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध के रूप में उठाया गया है। यद्यपि सभी जैन आचार्यों ने इस बात को एक मत से स्वीकार किया है कि श्रुतज्ञान (भाषायी ज्ञान) मतिज्ञान (अर्थात् इन्द्रिय बोध) के बिना सम्भव नहीं है। श्रुत मतिपूर्वक है, इस बात को तत्त्वार्थ एवं अन्य ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।^१ वस्तुतः चिन्तन या विमर्श के पूर्व इन्द्रिय संवेदन आवश्यक है। इन्द्रिय-बोध ही वह सामग्री प्रस्तुत करता है, जिस पर चिन्तन या मनन होता है और जिसका सम्प्रेषण दूसरों के प्रति किया जाता है। अतः जैनों की यह अवधारणा समुचित ही है कि मतिज्ञान (इन्द्रिय बोध) पूर्वक ही श्रुतज्ञान (भाषा-ज्ञान) होता है। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान का पोषण करता है, उसे पूर्णता प्रदान करता है। क्योंकि मतिज्ञान से श्रुत का पुनरावर्तन होता है। मतिज्ञान से (सुनकर या पढ़कर) ही श्रुतज्ञान (भाषायी ज्ञान) प्राप्त किया जाता है और मति (विचार या चिन्तन) पूर्वक ही श्रुतज्ञान दूसरों को प्रदान किया जाता है। विशेषावश्यकभाष्य में मतिज्ञान (अनुभवजन्य ज्ञान) और श्रुतज्ञान (भाषाजन्य ज्ञान) के सम्बन्ध को लेकर गम्भीर चर्चा उपस्थित की गई है। विशेषावश्यकभाष्यकार भी इस बात को स्वीकार करता है कि मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है, किन्तु मतिज्ञान श्रुतज्ञान पूर्वक नहीं होता है।^२ यद्यपि मल्ल-धारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावश्यक वृत्ति में इतना अवश्य स्वीकार कर लिया है कि मतिज्ञान भी द्रव्यश्रुत पूर्वक होता है। वस्तुतः इस चर्चा में उतरने के पूर्व हमें यह समझ लेना होगा कि श्रुतज्ञान में मतिज्ञान का और मतिज्ञान में श्रुतज्ञान का अवदान किस प्रकार से होता है। जैन आचार्यों ने मतिज्ञान के अन्तर्गत इन्द्रिय संवेदन और मानसिक संवेदनों के साथ चिन्तन, विचार और तर्क को भी समाहित किया है। यहीं यह प्रश्न होता है कि चिन्तन, मननादि क्या बिना भाषायी व्यवहार के सम्भव हैं? और यदि वे बिना भाषा के सम्भव नहीं हैं तो फिर मतिज्ञान के जो

१. श्रुतं मतिपूर्वकं.....। तत्त्वार्थ, १।२०।

२. मद्भुव्वं सुयमुत्तं न मई सुयपुव्विया विसेसोऽयं।

पूर्व्वं पूरण-पालण भावा ओ जं मई तस्स ॥

—विशेषावश्यकभाष्य, १०५।

१६ : जैन भाषा-दर्शन

अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा—ऐसे चार भेद किए गए हैं, उनमें अवग्रह को छोड़कर शेष सभी प्रकारों में चिन्तन और विमर्श होता है, जो भाषा के बिना नहीं होता; अतः हमें यह मानना पड़ेगा कि अवग्रह को छोड़कर शेष सभी प्रकार का मतिज्ञान श्रुतज्ञान का अनुसारी है, क्योंकि यह स्पष्ट है कि जहाँ भाषा व्यवहार है वहाँ श्रुतज्ञान है और अवग्रह के बाद ईहा और अपाय में निश्चित रूप से भाषा व्यवहार है। विशेषावश्यकभाष्य एवं जैनतर्कभाषा में यह प्रश्न उठाया गया है—कि अवग्रह ही मतिज्ञान है, ईहादि भाषा शब्दोल्लेख सहित होने से मतिज्ञान नहीं होगा, अतः उन्हें श्रुतज्ञान मानना पड़ेगा। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा गया है कि यद्यपि ईहादि शब्दोल्लेख सहित हैं, फिर भी वे शब्दरूप नहीं हैं, क्योंकि अभिलाष्य ज्ञान जब श्रुत अनुसारी होता है तभी वह श्रुत कहलाता है, अन्यथा नहीं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अंतर व्यक्त वचन-व्यवहार एवं अक्षर-प्रयोग के आधार पर किया गया है। वस्तुतः मतिज्ञान में अव्यक्तरूप से ही भाषा-व्यवहार देखा जाता है, व्यक्त रूप से नहीं। मति और श्रुत में भेद मूक और अमूक के आधार पर ही है। यह भी कहा जा सकता है कि ईहादि श्रुत निश्चित ही हैं, क्योंकि संकेत काल में सुने हुए शब्द का अनुसरण किए बिना वे घटित नहीं होते। यह ठीक है कि श्रुत से संस्कार प्राप्त मति वाले व्यक्ति को ईहादि उत्पन्न होते हैं इसी-लिए उन्हें श्रुत निश्चित कहा गया, किन्तु उनमें व्यवहार काल में श्रुत का अनुसरण नहीं होता, अतः उन्हें श्रुत ज्ञानरूप नहीं माना जा सकता।^१ वस्तुतः चिन्तन और मनन में अव्यक्त रूप में भाषा व्यवहार होते हुए भी बाह्यरूप से वचन प्रवृत्ति का अभाव होता है और इसी बाह्य वचन प्रवृत्ति के आधार पर या व्यक्त संकेतात्मकता के आधार पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का भेद किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में मतिज्ञान के ईहादि भेदों में अव्यक्त रूप से भाषा-व्यवहार है और श्रुतज्ञान में व्यक्त रूप से भाषा व्यवहार है।

पं० सुखलालजी तत्त्वार्थसूत्र की विवेचना में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता है और श्रुतज्ञान में होता है। अतएव दोनों का फलित लक्षण यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख (व्यक्त भाषा प्रयोग) सहित है, वह श्रुतज्ञान है और जो शब्दोल्लेख रहित है, वह मतिज्ञान है। शब्दोल्लेख के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए आगे वे लिखते हैं कि शब्दोल्लेख का मतलब व्यवहारकाल में शब्दशक्ति-ग्रह जन्यत्व से है अर्थात् जैसे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के समय संकेत, स्मरण और श्रुतग्रन्थ का अनुसरण अपेक्षित है, वैसे ईहा आदि मतिज्ञान की उत्पत्ति में अपेक्षित नहीं है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि जो ज्ञान भाषा में उतारा जा सके, वह श्रुतज्ञान और जो ज्ञान भाषा में उतारने लायक परिपाक को प्राप्त न हो, वह मतिज्ञान है। श्रुतज्ञान खीर है तो मतिज्ञान दूध।^२ श्रुतज्ञान को भी जैनाचार्यों ने दो भागों में विभक्त किया है—(१) अक्षर श्रुत और (२) अनक्षर श्रुत। यद्यपि यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि श्रुतज्ञान भाषा से सम्बन्धित है तो फिर अनक्षर श्रुत का क्या अर्थ होगा ?

१. द्रष्टव्य—(अ) जैन तर्क भाषा, पृ० ५ 'मति श्रुतयोर्विवेक'—श्री त्रिलोक रत्न धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी से प्रकाशित।

(ब) विशेषावश्यकभाष्य, ९५०—१०४ पर हेमचन्द्राचार्य की वृत्ति (गुजराती अनुवाद, पृ० ५८-६१)

२. तत्त्वार्थ सूत्र, पृ० २५।

वह तो मतिज्ञान का ही रूप होगा। इस सम्बन्ध में जैन मान्यता यही है कि जब ज्ञाता स्वयं जानता है तो अनक्षर श्रुत है और जब दूसरों को ज्ञान कराता है, अथवा दूसरों से ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह अक्षर श्रुत है। स्वयं ज्ञान करने में भाषा का प्रयोग होता है, किन्तु अक्षरों का उच्चारण नहीं होता है, अतः वह अनक्षर श्रुत है। अनक्षर का अर्थ भाषा रहित नहीं, शब्दोच्चारण से रहित होना है। अनक्षर श्रुत का दूसरा अर्थ यह होता है कि उसमें शब्दों (भाषायी ध्वनि-संकेतों) के अतिरिक्त अन्य संकेतों से अर्थबोध कराया जाता है। क्योंकि इसमें शब्दों का प्रयोग नहीं है फिर भी अर्थबोध है, अतः यह अनक्षर श्रुत है। अतः संकेत की व्यक्तता और अव्यक्तता ही श्रुतज्ञान और मतिज्ञान के भेद का आधार है।

मतिज्ञान में भाषा का कोई स्थान ही नहीं है, यह मान्यता भी उचित नहीं है। मेरी दृष्टि में अवग्रह को छोड़कर ईहा आदि मतिज्ञान के अन्य सभी रूप भी भाषा से सम्बन्धित हैं, क्योंकि ज्ञान के क्षेत्र में जहाँ चिन्तन या विचार का प्रारम्भ होता है वहाँ स्वाभाविक रूप से भाषा आ ही जाती है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के साथ ही मतिज्ञान में भी अवग्रह के पश्चात् की समस्त प्रक्रिया भाषा से सम्बन्धित है, क्योंकि वह चिन्तन एवं विमर्श से युक्त है। यह एक अनुभूत सत्य है कि मनुष्य में जो भी सोचने-विचारने की प्रक्रिया घटित होती है, वह भाषा में घटित होती है, उमसे अन्यथा नहीं। भाषा के बिना चिन्तन और मनन सम्भव ही नहीं है। अतः निर्विशेष एवं निर्विकल्प इन्द्रियानुभूति और आत्मानुभूति को छोड़कर शेष सभी ज्ञानात्मक व्यवहार भाषा पर आधारित हैं। इस प्रकार जैनों का मतिज्ञान भी किसी सीमा तक भाषा से सम्बन्धित है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल—इन पाँच ज्ञानों में आंशिक रूप से मतिज्ञान और पूर्णरूप से श्रुतज्ञान भाषा से सम्बन्धित हैं। मात्र अवधि, मनःपर्यव और केवल—ये तीन ज्ञान अपरोक्ष आत्मानुभूति के रूप में भाषा से सम्बन्धित नहीं हैं। मतिज्ञान में मात्र व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह ही ऐसे हैं, जो भाषा से सम्बन्धित नहीं हैं। शेष ईहा, अपाय और धारणा—सभी अव्यक्तरूप से भाषा से सम्बन्धित हैं, क्योंकि इनमें संशय, चिन्तन और विमर्श होते हैं और ये सभी बिना भाषा के सम्भव नहीं हैं। आधुनिक मनो-वैज्ञानिकों के अनुसार भी चिन्तन अव्यक्त भाषा व्यवहार ही है। अतः हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन में विचार और भाषा अपरिहार्य से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। बिना भाषा के विचार एवं चिन्तन सम्भव नहीं है।

भाषा के प्रकार—

सामान्यतया वे सभी ध्वनि संकेत, शारीरिक संकेत एवं अन्य प्रकार से किये गये संकेत, जो वक्ता या संकेतकर्ता की भावाभिव्यक्ति को श्रोता या द्रष्टा तक पहुँचाते हैं और श्रोता या द्रष्टा उनसे अर्थबोध प्राप्त करता है, भाषा कहलाते हैं। जैन परम्परा में भाषात्मक ज्ञान को श्रुत कहा गया है, क्योंकि जैनाचार्यों ने श्रुतज्ञान की परिभाषा देते हुए कहा है कि एक प्रकार के ज्ञान (इन्द्रियबोध) से जो दूसरा ज्ञान (अर्थ-बोध) होता है, वह श्रुतज्ञान है।^१ जैसे गाय शब्द सुनकर गाय नामक प्राणी का ज्ञान। भाषा का भी यही लक्षण है। भाषा/श्रुत के दो भेद किये गये हैं—१ अक्षरश्रुत और २

१. अत्याओ अत्यंतर उवलंभे तं भणति सुयणाणं—पंचसंग्रह १।१२२।

१८ : भाषादर्शन

अनक्षरश्रुत ।^१ स्वर, व्यंजन आदि वर्णों से युक्त ध्वनि-संकेत एवं लिपि-संकेत अक्षरश्रुत के अन्तर्गत आते हैं, जबकि स्वर, व्यंजन आदि वर्णों से रहित श्रव्यमान अस्पष्ट ध्वनियाँ तथा दृश्य सांकेतिक चेष्टाएँ अनक्षरश्रुत के अन्तर्गत आती हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जैनाचार्यों ने शब्द-बोध को भी दो भागों में विभाजित किया है—१ भाषात्मक और २ अभाषात्मक^२। वे अक्षरात्मक/वर्णात्मक शब्द-ध्वनियाँ, जो श्रोता को अर्थबोध कराने में समर्थ हों, अनिवार्यतः भाषात्मक होकर अक्षरश्रुत के अन्तर्गत आती हैं। किन्तु अक्षरश्रुत इससे व्यापक भी है, क्योंकि इसमें लिपि संकेत से होनेवाला ज्ञान भी समाहित है। इस प्रकार अक्षरश्रुत दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार का है और ये दोनों ही प्रकार भाषात्मक हैं।^३ जहाँतक स्वर-व्यंजनादि से रहित शब्द-ध्वनि का प्रश्न है, वह अनक्षरश्रुत रूप भी हो सकती है और उससे भिन्न भी हो सकती है। अभाषात्मक अर्थात् स्वर-व्यंजनादि वर्णों से रहित ध्वनि, यदि भावाभिव्यक्ति में समर्थ है तो अनक्षरश्रुत रूप है और यदि भावाभिव्यक्ति में समर्थ नहीं है, तो श्रुतरूप/भाषात्मक नहीं है। अतः अनक्षरात्मक शब्द ध्वनि अनक्षरश्रुतरूप भी हो सकती है और अश्रुतरूप (अर्थात् मतिज्ञानरूप) भी हो सकती है। क्योंकि समस्त श्रुतज्ञान (भाषायी ज्ञान) अनिवार्यतया मतिज्ञान (इन्द्रिय-सम्वेदन) रूप होता है, किन्तु समस्त मतिज्ञान (इन्द्रियसम्वेदन) श्रुतज्ञान रूप (भाषात्मक) हो यह आवश्यक नहीं है।

अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत दोनों ही भाषा के प्रकार हैं। स्वर-व्यंजन आदि से युक्त उच्चरित या लिखित भाषा तो अक्षरश्रुत है ही, स्वर-व्यंजन आदि से रहित ध्वनि संकेत और अन्य प्रकार के संकेत भी, जो भावाभिव्यक्ति में समर्थ होते हैं, अनक्षर श्रुत के अन्तर्गत आ जाते हैं। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने भी भाषा के इन दोनों रूपों को स्वीकार किया है। भाषा की व्यापक परिभाषा की दृष्टि से अनक्षरश्रुत भी भाषा का ही एक रूप है तथा वह भी श्रव्य और श्रव्येतर दोनों ही प्रकार का है। जैनों के अनुसार सांकेतिक ध्वनि, सांकेतिक चेष्टाएँ और सांकेतिक चिह्न (लिपि) और उनके आधार पर होनेवाला अर्थबोध दोनों ही क्रमशः द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के रूप में भाषा के ही अंग हैं। इस प्रकार भाषा/श्रुत एक व्यापक अवधारणा है। यद्यपि श्वे० परम्परा के आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण, हरिभद्र एवं मलयगिरि अश्रूयमान शारीरिक चेष्टाओं को अनक्षरश्रुत में समाविष्ट नहीं करते हैं। उनके अनुसार जो सुनने योग्य है वही श्रुत है, अन्य नहीं; अर्थात् जो चेष्टायें सुनाई नहीं देतीं, वे श्रुत नहीं हैं।^४ किन्तु इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने यह माना है कि सभी प्रकार का मतिज्ञान श्रुतज्ञान का कारण है, अतः श्रूयमान और दृश्यमान दोनों ही प्रकार के संकेतों से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आता है।^५ मुझे भी यह दूसा

१. (अ) श्रुतज्ञानस्य अनक्षरात्मकाक्षरात्मकौ द्वौ भेदौ—जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश भाग ४ पृ० ५९।

(ब) सुत्तं पुण उभयं पि अणक्खरक्खरओ—विशेषावश्यक भाष्य १७०।

२. शब्दो द्विविधो भाषालक्षणो विपरीतश्चेति। भाषालक्षणो द्विविधः साक्षरोऽनक्षरश्चेति।

—सर्वार्थसिद्धि ५।२४।२९४।१२ उद्धृत जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश भाग ३ पृ० २३७।

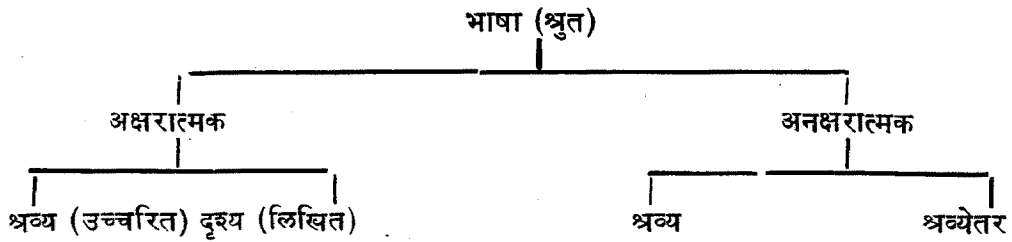
३. भणओ सुणओ व सुयं तं जमिह सुयाणुसारि विण्णाणं—विशेषावश्यकभाष्य १२०।

४. देखें—(अ) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १ पृ० १४।

(ब) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ११६ से १५३ तक।

५. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश भाग ४ पृ० ६१।

मत ही अधिक युक्तिसंगत लगता है, क्योंकि लिखित भाषा श्रव्य न होकर दृश्य होती है, उसे देखकर (पढ़कर) अर्थबोध (ज्ञान) होता है। पं० बेचरदासजी ने भी इसी मत की पुष्टि की है। वे लिखते हैं—मेरी दृष्टि से 'श्रुत' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए श्रूयमाण और दृश्यमान दोनों प्रकार के संकेतों और चेष्टाओं को श्रुतज्ञान में समाविष्ट करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।^१ यदि हमारी भावाभिव्यक्ति के साधन ध्वनि संकेत, शारीरिक चेष्टायें और अन्य प्रकार के संकेत—ये सभी हैं और हम यह मानते हैं कि संकेतों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति करना और अर्थबोध प्राप्त करना ही भाषा है, तो हमें सांकेतिक अभिव्यक्तियों के इन सभी रूपों को भाषा के अन्तर्गत समाविष्ट करना होगा और इन्हें भाषायी अभिव्यक्ति के ही विविध प्रकार मानने होंगे। इस आधार पर जैन दर्शन में भाषा को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—



अक्षरात्मक भाषा के प्रकार—स्वर, व्यञ्जनादि से युक्त भाषा अक्षरात्मक भाषा है। यह मौखिक (श्रव्य) और लिखित (दृश्य) भेद से दो प्रकार की है। संसार की लगभग सभी भाषाएँ एवं बोलियाँ इसके अन्तर्गत आ जाती हैं^२। सामान्यतया मनुष्यों की सभी विकसित भाषाएँ अक्षरात्मक हैं। अक्षरात्मक भाषा वह भाषा है जो स्वर-व्यञ्जनादि वर्णों से बनेवाले सार्थक शब्दों, पदों एवं वाक्यों से निर्मित होती है। जैनाचार्यों के अनुसार ऐसी भाषा शक्ति केवल संज्ञी (विवेकशील = Rational) पञ्चेन्द्रिय प्राणियों अर्थात् मनुष्यों और अन्य विकसित प्राणियों में ही होती है। अक्षरात्मक भाषा को जैनाचार्यों ने आर्य भाषा (भाषा) और अनार्यभाषा (कुभाषा) के आधार पर दो भागों में विभाजित किया है^३। पुनः आर्य भाषा में निम्न अठारह भारतीय भाषाओं का समावेश किया है^४—

तीन कर्णाट भाषाएँ
तीन मरहट्ट भाषाएँ
तीन लाह भाषाएँ
तीन मालव भाषाएँ

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १ पृ० १४।

२. अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतविपरीतभेदादार्यं म्लेच्छव्यवहारहेतुः।—सर्वार्थसिद्धि ५।२४।२९५।१।

३. अक्खरगया अणुवधादिदियसण्णिपंचिदियपज्जतभासा। सा दुविहा—भासा कुभासा।

—धवला १३।५, ५, २६।२२१।११।

४. भासाओ पुण अट्ठारस ह्वंति—तिकुस्क, तिलाढ, तिमरहट्ट, तिमालव, तिगउड, तिमामघ भासभेदेण।—बही।

तीन मागध भाषाएँ

तीन गौड भाषाएँ

आज भी भारत में प्रचलित विविध भाषाएँ इन्हीं भाषाओं के कालक्रम में संस्कारित एवं मिश्रित रूपों से निर्मित हुई हैं ।

अनार्य भाषाओं के अन्तर्गत अभारतीय भाषाओं को समाहित किया गया है । जैनाचार्यों के अनुसार इसके काश्मीरी (किरी), पारसी, सिहली, बर्बरिक आदि सात सौ भेद हैं^१ । ऐसा लगता है कि जैनाचार्य सभी अभारतीय भाषाओं से परिचित नहीं थे । अतः वे कुछ परिचित अभारतीय भाषाओं के नाम ही गिना पाये । अभारतीय भाषाओं की उनके द्वारा कल्पित सात सौ की यह संख्या कितनी प्रामाणिक है, यह कहना तो कठिन है, फिर भी वर्तमान में प्रचलित भाषाओं और बोलियों को देखते हुए यह संख्या पूर्णतः काल्पनिक एवं अतिशयोक्ति पूर्ण भी नहीं लगती है । वैसे जैन ग्रन्थों में जिन भारतीय और अभारतीय भाषाओं का उल्लेख मिलता है, उस पर भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा शोधकार्य की अपेक्षा है । चूँकि यहाँ मेरा प्रतिपाद्य विषय भाषा-विज्ञान न होकर भाषा-दर्शन है, अतः इस ग्रन्थ में इन सबका गहराई से विवेचन करना सम्भव नहीं है ।

अनक्षरात्मक भाषा—स्वर, व्यञ्जनादि वर्णों के प्रयोग से रहित ध्वनि संकेतों, शारीरिक चेष्टाओं और अन्य प्रकार के माध्यम से की जाने वाली भावाभिव्यक्ति और हानेवाले अर्थबोध को जैनाचार्यों ने अनक्षरात्मक भाषा कहा है । उनके अनुसार द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों, मूक, बालकादि के ध्वनि संकेत और सांकेतिक चेष्टाएँ और तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि—ये सभी अनक्षरात्मक भाषा के रूप हैं^२ । द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों में श्रुत अर्थात् भाषाज्ञान का अस्तित्व मानना इसलिए आवश्यक है कि ये सभी प्राणी ध्वनि आदि संकेतों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति एवं अर्थबोध प्राप्त करते हैं । विशेषावश्यकभाष्य में स्पष्टरूप से कहा गया है कि उच्छ्वास लेना, निःश्वास डालना, थूकना, खाँसना, छींकना, ताली बजाना, सोत्कार करना आदि अनक्षर श्रुत (अनक्षरात्मक भाषा) हैं^३ । क्योंकि किसी की निःश्वास (आह) को सुनकर उसके शोकाकुल होने का अर्थबोध होता है, इसी प्रकार अन्य शारीरिक चेष्टाएँ भी जो अक्षर रहित होकर भी श्रोता या द्रष्टा को अर्थबोध कराती हैं, अनक्षर श्रुत/अनक्षरात्मक भाषा के ही रूप हैं । भाषाओं और लिपियों की कोई संख्या या सीमा हो सकती है, किन्तु सांकेतिक चेष्टाओं से होनेवाले अर्थबोध की सीमा निश्चित करना कठिन है । प्राणियों के जातिभेद, ध्वनिभेद, चेष्टाभेद एवं अर्थभेद के आधार पर अनक्षर श्रुत/अनक्षरात्मक भाषा के अनेक प्रकार हो सकते हैं । तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होती है या अनक्षरात्मक होती है—इस प्रश्न पर जैनधर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों में

१. तत्थ कुभासाओ कीर, पारसिय, सिंघल वव्वरियादीण विणिग्गयाओ सत्तसयभेदभिण्णाओ ।

—ध्वला १३।५, ५, २६।२२।११ ।

२. (अ) तत्थ अणक्खरगया बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिदियाणं मुहसमुब्भुदा बालमूअसण्णिपंचिदिय भासा च ।

—वही १३।५, ५, २६।२२।१० ।

(ब) अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादिशब्दरूपो दिव्यध्वनिरूपश्च ।—पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति ७१।१३।७ ।

३. ऊससियं नीससियं निच्छूढं खासिअं च छीयं च ।

निसिंसंधियमणुसारं अणक्खरं छेलियाईयं ॥

—विशेषावश्यक भाष्य ५०१ ।

मतभेद है, किन्तु दोनों ही इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि वह भाषायी अभिव्यक्ति है, क्योंकि उससे विविध प्राणी अर्थबोध प्राप्त करते हैं ।

इस समय विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भाषा के स्वरूप एवं प्रकारों के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का दृष्टिकोण व्यापक है । वे रूढ़िवादी ब्राह्मण दार्शनिकों के समान यह नहीं मानते हैं कि संस्कृत शब्द और संस्कृत भाषा में ही एकमात्र सम्यक् अर्थबोध की सामर्थ्य है । उनके अनुसार भाषा एक व्यापक अवधारणा है, उसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भारतीय भाषाएँ ही नहीं, अपितु विश्व की सभी भाषाएँ और बोलियाँ समाहित हैं । मात्र यही नहीं, वे अनक्षर श्रुत की अवधारणा को स्त्रीकृत करके भाषा को इतना व्यापक बना देते हैं कि उसमें मात्र दृश्य और श्रव्य ही नहीं, अपितु सभी प्रकार का सांकेतिक अर्थबोध समाहित हो जाता है । यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि संकेत की अनुभूति और उससे होनेवाला अर्थबोध दोनों अलग-अलग हैं । जैनों के अनुसार संकेत का इन्द्रिय सम्बेदन मतिज्ञान है और उस संकेत के इन्द्रिय सम्बेदन से होनेवाला अर्थबोध श्रुतज्ञान या भाषायीज्ञान है । किसी को लाल झण्डी हिलाते हुए देखना मतिज्ञान है और उससे यह अर्थ लगाना कि गाड़ी रोको, आगे मार्ग अवरुद्ध है—श्रुत या भाषायी ज्ञान है । इस प्रकार भाषायीज्ञान/श्रुतज्ञान का तात्पर्य है—संकेतों/चिह्नों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति करना और ऐसी भावाभिव्यक्ति को समझना ।

भाषा के मूल उपादान—

भाषा का मुख्य प्रयोजन है—प्रतीकों/संकेतों के माध्यम से अनुभूतियों, भावनाओं और विचारों का सम्प्रेषण कर दूसरों को अर्थबोध (ज्ञान) कराना, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में 'परोपदेश' कहा जाता है, यही परोपदेश भाषा का मुख्य कार्य है । भाषा इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रतीकों/संकेतों का सहारा लेती है । जब ये प्रतीक वर्णों/अक्षरों से निर्मित शब्द/पद होते हैं, तो वह अक्षरात्मक भाषा कहलाती है । यद्यपि जैनाचार्यों ने ऐसी भाषा का अस्तित्व स्वीकार किया है, जिसके प्रतीक/संकेत वर्णात्मक नहीं होते हैं । इस अनक्षरात्मक भाषा की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं । प्रस्तुत प्रसंग में भाषा से हमारा तात्पर्य वर्णात्मक या अक्षरात्मक भाषा से ही है, क्योंकि जनसाधारण भाषा से अक्षरात्मक एवं शब्दात्मक भाषा को ग्रहण करता है ।

सामान्यतया मानवजाति में विचार सम्प्रेषण का कार्य वाक्यों के द्वारा होता है । ये वाक्य शब्दों/पदों से निर्मित होते हैं और शब्द एवं पद वर्णों या अक्षरों से निर्मित होते हैं । इस प्रकार भाषा का मूल या अन्तिम उपादान वर्ण या अक्षर होते हैं ।

अक्षर/वर्ण की परिभाषा—सामान्यतया किसी भी भाषा में प्रयुक्त होनेवाले स्वर-व्यंजनों को वर्ण/अक्षर कहा जाता है । आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का कहना है कि जिससे अर्थ का प्रतिपादन (क्षरण) होता है, किन्तु स्वयं क्षीण (क्षरित) नहीं होता है, वह 'अक्षर' है (अत्ये य खरइ न य जेण खिज्जई अक्खर तेण—विशेषावश्यक ४६१) । उनका कहना है कि स्वर-व्यंजनों को अक्षर कहना यह तो मात्र उनका रूढ़ार्थ है (रूढ़िवशादक्षर वर्ण इत्युक्त) । वस्तुतः तो अक्षर वह

१. वर्णपदवाक्यात्मकं वचनम् ।

है जो अर्थ (meaning) का क्षरण करके भी क्षरित नहीं होता है अर्थात् अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता है। इस दृष्टि से 'ज्ञान' को ही अक्षर कहा गया है।^१ वस्तुतः आत्मा का जो चेतना-भाव है, बोध शक्ति या ज्ञानशक्ति है, वही अक्षर है। जैनों की पारम्परिक शब्दावली में निश्चय दृष्टि से तो आत्मा की ज्ञानशक्ति या अर्थबोध सामर्थ्य ही 'अक्षर' है, किन्तु व्यवहार दृष्टि से या द्रव्यदृष्टि से वर्णात्मक ध्वनियों को या वर्णों की लिपिगत आकृतियों को भी अक्षर कहा गया है।

अक्षर के भेद—

जैनाचार्यों ने अक्षर/वर्ण की आकृतिरूप, ध्वनिरूप और ज्ञानरूप—ऐसी तीन अवस्थाएँ मानी हैं और इन तीन अवस्थाओं के आधार पर उसके निम्न तीन विभाग किये हैं—१ संज्ञा-अक्षर, २ व्यञ्जनाक्षर और ३ लब्ध्याक्षर^२।

अक्षरों या वर्णों का संस्थान (आकृति) संज्ञा-अक्षर है अर्थात् विविध प्रकार की लिपियों में विविध वर्णों की जो आकृतियाँ बनायी जाती हैं या जो आकार निर्धारित हैं, उन आकृतियों या आकारों को संज्ञाक्षर कहते हैं, संज्ञाक्षर लिप्यक्षर हैं^३। दूसरे शब्दों में लिपि संज्ञाक्षर है। विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों में अभीष्ट अर्थ को संकेतित करने के लिए जो स्वरों एवं व्यञ्जनों का उच्चारण या ध्वनि होता है, उसे व्यञ्जनाक्षर कहते हैं। इस प्रकार भाषा में प्रयुक्त वर्णों (अक्षरों) के उच्चरित या घोष रूप व्यञ्जनाक्षर हैं^४। संज्ञाक्षर और व्यञ्जनाक्षर अर्थात् लिखितभाषा और उच्चरित भाषा—दोनों को जैनों ने उपचार से ही श्रुतज्ञान माना है, ये दोनों द्रव्य-अक्षर हैं। वस्तुतः ये जड़ हैं और ज्ञान या अर्थबोध के निमित्त या साधन मात्र हैं। इन दोनों के आधार पर होनेवाला जो अर्थबोध है, वही लब्ध्याक्षर है। लब्धि सामर्थ्य या शक्ति को कहते हैं। पारिभाषिक शब्दावली में आत्मा के उपयोग (ज्ञान) को लब्धि कहा गया है। वर्णों या अक्षरों की अर्थ संकेत-सामर्थ्य या अर्थ संकेतित करने की शक्ति ही लब्ध्याक्षर है।^५ लब्ध्याक्षर भाषा का चेतनागत पक्ष

१. (अ) नक्खरइ अणुवओगेऽ वि अक्खरं सो य चयेणाभावो ।

(ब) जइ वि हु सव्वं चिय नाणमक्खरं तह वि रुद्धिओ वन्तो ।

—विशेषावश्यक भाष्य ४५५ एवं ४५९ ।

२. (अ) त सण्णा वंजण लद्धिसण्णियं तिविहमक्खरं—विशेषावश्यकभाष्य ४६४ ।

(ब) से कि तं अक्खरसुयं ? अक्खरसुयं तिविहं पन्तं ।

तं जहा—सन्नक्खर, वंजनक्खर, लद्धिक्खर ॥

३. (अ) से कि तं सन्नक्खर ? सन्नक्खर संठाणगिइ से तं सन्नक्खर ।

(ब) सुबहुलिविभेयनिययं सण्णक्खरमक्खरागारो ।—विशेषावश्यकभाष्य ४६४ ।

४. (अ) से कि तं वण्णक्खर ? वंजणक्खर अक्खरस्स वंजणाभिलाओ से तं वंजणक्खर ।

(ब) वंजिज्जइ जेपत्थो घड़ो व्व दीवेण वंजणं तो तं ।

भण्णइ भासिज्जंतं सव्वमकाराइ तक्कालं ॥—विशेषावश्यकभाष्य ४६५ ।

५. (अ) से कि तं लद्धि-अक्खर ? लद्धि अक्खर ।

अक्खर लद्धियस्स लद्धि अक्खर समुप्पज्जई ॥

(ब) जो अक्खरोबलंभो सा लद्धी तं च होइ विण्णाणं इंदिय मणोनिमित्तं जो आवरणक्खओवसमो ॥

—विशेषावश्यक भाष्य ४६६ ।

या प्राण है। इसे मात्र अक्षर भी कहते हैं। यदि ज्ञाता की अपेक्षा से कहें, तो लिखित या उच्चरित वर्णों (अक्षरों) के निमित्तसे होनेवाला अर्थबोध लब्ध्यक्षर है। जैनाचार्यों की यह मान्यता है कि संज्ञाक्षर और व्यञ्जनाक्षर—विचार-सम्प्रेषण के हेतु हैं—वे द्रव्य श्रुत हैं। उन्हीं में भाषा की परोपदेशजन्यता निहित है, क्योंकि हम लिखित या मौखिक रूप से ही अपने विचारों का सम्प्रेषण दूसरों के प्रति कर सकते हैं। लब्ध्यक्षर व्यक्ति को अर्थबोध या ज्ञान सामर्थ्य है, वह भाव श्रुत है। अतः वह परोपदेशपूर्वक अर्थात् दूसरों को सहायता से भी हो सकता है और परोपदेश के बिना भी हो सकता है। यद्यपि लब्ध्यक्षररूप अर्थबाध—दूसरे शब्दों में लिखित अथवा उच्चरित स्वर और व्यञ्जनों से होनेवाला अर्थबोध—भी बिना भाषा को सीखे नहीं होता। अतः इस अपेक्षा से उसे परम्परागत शब्दावली में परोपदेशपूर्वक और आधुनिक शब्दावली में अर्जितगुण हो मानना चाहिए। किन्तु जैनाचार्यों की मान्यता यह है कि जब तक व्यक्ति में स्वतः अर्थबोधसामर्थ्य या प्रतीकों के माध्यम से अर्थबोध ग्रहण करने की शक्ति नहीं होगी, वह अर्थबोध नहीं कर सकेगा और इस दृष्टि से उसे स्वाभाविक या अनर्जित गुण भी माना जा सकता है। आधुनिक भाषाशास्त्र की दृष्टि से निश्चय ही यह बात सत्य है कि भाषा सीखी हुई या अर्जित होती है किन्तु इसके साथ-साथ मनोविज्ञान हमें यह भी बताता है कि सीखने की शक्ति (बुद्धिलब्धि) एक अनर्जित गुण है। स्वर, व्यञ्जन अथवा शब्दों के माध्यम से होनेवाली अर्थबोधसामर्थ्य सभी प्राणियों में और सभी व्यक्तियों में समान नहीं होती। वस्तुतः बुद्धिलब्धि ही लब्ध्यक्षर है और आधुनिक मनोविज्ञान ने उसे एक अनर्जित या अनसीखा हुआ गुण माना है। इसी बात को जैनों ने इस रूप में प्रकट किया है कि लब्ध्यक्षर श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होता है, अतः वह आत्मनिष्ठ (Subjective) है, जबकि संज्ञा-अक्षर एवं व्यञ्जनाक्षर बाह्य एवं वस्तुनिष्ठ (Objective) है, यह भाषा का अर्जित पक्ष है। यद्यपि लब्ध्यक्षर अर्थबोध सामर्थ्य के रूप में अनर्जित है, किन्तु यह अर्थबोध संज्ञा-अक्षर एवं व्यञ्जनाक्षर पर भी आधारित है और चूँकि ये अर्जितगुण हैं, सीखे जाते हैं—अतः लब्ध्यक्षर भी किसी सीमा तक अर्जित या सीखा हुआ माना जा सकता है।

स्वर और व्यञ्जन—जैनाचार्यों ने अक्षरों को स्वर और व्यञ्जन—इन दो वर्गों में विभाजित किया है। विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणिकमाश्रमण ने स्वर को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—अक्षरों का जो अनुसरण करता है वह 'स्वर' है। वृत्तिकार ने अक्षर को सत्ता तथा ज्ञान का वाचक-पर्याय माना है। उन्हीं का अनुसरण करने अथवा उन्हें प्रकट करने के कारण उसे स्वर कहते हैं। भाष्यकार आगे कहते हैं कि जो अकेले भी वस्तु/ज्ञान का बोधक होता है तथा व्यञ्जनों को उच्चारण के योग्य बनाता है, वही स्वर है। क्योंकि स्वरों के बिना व्यञ्जन उच्चारण योग्य नहीं बनते हैं^१।

जैनाचार्य व्यञ्जन को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार दीपक घट को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जो अर्थ (पदार्थ) को अभिव्यक्त (प्रकट) करता है, अर्थात् उनका

१. अक्षरसरेण सरा—विशेषावश्यक भाष्य ४६१।

२. सुद्धाऽवि सरंति सयं सारंति वंजणाइं जं तेषां।

होति सरा न कयाइवि तेहि विणा वंजणं सरइ ॥—वही ४६२।

२४ : भाषादर्शन

वाचक होता है, वह व्यञ्जन है^१। वस्तुतः समस्त पदार्थ स्वर, व्यञ्जन और उनके विविध संयोगों से निर्मित शब्दों से अभिव्यञ्जित या वाच्य बनते हैं। इस प्रकार समस्त अक्षरात्मक भाषाओं के मूल उत्स स्वर-व्यञ्जन हैं, क्योंकि उन्हीं के आधार पर भाषा निर्मित होती है।

मातृकाक्षर—जैनाचार्यों ने ध्वनिविज्ञान एवं लिपिविज्ञान की दृष्टि से मूल वर्णों के प्रश्न पर गम्भीर रूप से कोई चर्चा की ही, यह मुझे ज्ञात नहीं है। मेरे समक्ष समवायांग का एक ही सन्दर्भ है, जहाँ छियालीस मातृकाक्षरों का उल्लेख है।^२ यद्यपि वहाँ भी वे मातृकाक्षर कौन से हैं यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है। टीकाकार अभयदेव ने ऋ, ऋ, ल, लृ इन चार स्वरों एवं ळ का वर्जन करके निम्न ४६ वर्ण माने हैं—

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः = १२

व्यञ्जन—क, ख, ग, घ, ङ

च, छ, ज, झ, ञ

ट, ठ, ड, ढ, ण

त, थ, द, ध, न

प, फ, ब, भ, म

= २५

अन्तस्थ—य, र, ल, व

= ४

उष्मवर्ण—श, स, ष, ह

= ४

४५

टीकाकार ने ४६ की संख्या पूर्ण करने के लिए इसमें 'क्ष' को और जोड़ा है^३, किन्तु 'क्ष' संयुक्ताक्षर है, अतः उसे लेने पर 'त्र' और 'ज्ञ' को भी लेना होगा। मेरी दृष्टि में 'क्ष' के स्थान 'ळ' को लेना चाहिए, क्योंकि उच्चारण भेद और प्राकृत-पालि भाषा की दृष्टि से यह स्वतन्त्र अक्षर है। आज भी मराठी, गुजराती आदि में ळ मान्य अक्षर है।

लिपि—

अक्षर के स्वरूप पर विचार करते हुए हमने देखा है कि जैन परम्परा में अक्षरों के तीन विभाग किये गये हैं—

(१) संज्ञा-अक्षर, (२) व्यञ्जन-अक्षर और (३) लब्ध्याक्षर। इनमें संज्ञा-अक्षर का सम्बन्ध लिपि से है। जैन परम्परा के अनुसार लिपि का विकास आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से माना जाता है। जैनों की यह मान्यता है कि भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि सिखाई और उसी के नाम पर वह लिपि 'ब्राह्मी लिपि' कहलायी। जैन आराम साहित्य में हमें निम्न अठारह लिपियों के उल्लेख मिलते हैं—

१. वंजिज्जइ जेणऽत्थो घडो व्व दीवेण वंजणं तो तं ।

अत्थं पाएण सरा वंजेंति न केवला जेणं ॥—विशेषावश्यक भाष्य ४६३ ।

२. छयालीस माउया पया—समवायांग ४६ ।

३. देखें—समवायांग ४६ टीका—अभयदेव, पृष्ठ ६५ ।

क्रमाङ्क	समवायाङ्ग	प्रज्ञापना	विशेषावश्यक भाष्य
	(१८ वां समवाय)	(जीवप्रज्ञापना ७१)	(हेमचन्द्र टीका गाथा ४६४)
१.	बंभी (ब्राह्मी)	बंभी (ब्राह्मी)	जवणि (यवनी)
२.	जवणालिया (यावनी)	जवणाणिया (यवनानी)	हंस (हंस)
३.	दोस ऊरिया (दोष उपरिका)	दोसापुरिया (दोसापुरीया)	भूय (भूत)
४.	खरोट्टिया (खरोष्ट्रिका)	खरोट्टी (खरोष्ट्री)	जक्खी (यक्ष)
५.	भोगवइया (भोगवतिका)	भोगवइया (भोगवती)	रक्खसी (राक्षसी)
६.	पहाराइया (प्रहारातिका)	पहराइया	उड्डी (उड्डिया)
७.	खरसाविया (खरश्राविका)	अंतक्खरिया	तुक्खकी (तुर्की)
८.	उच्चतरिया (उच्चतरिका)	पुक्खरसारिया	कीरी (क्रीट)
९.	अक्खरपुट्टिया (अक्षरपृष्ठिका)	अक्खरपुट्टिया	दविड्डी (द्राविडी)
१०.	वेणतिया (वेणकिया)	वेणइया (वैनयिकी)	सिधवो (सिन्धी)
११.	णिण्हइया (निह्वविका)	निण्हइया (निह्वविकी)	मालविणी (मालवी)
१२.	अंक (अङ्क)	अंक (अङ्क)	नडि
१३.	गणिअ (गणित)	गणिय (गणित)	नागरि (नागरी)
१४.	गंधव्व (गन्धर्व) } भूत (भूत) }	गंधव्व (गन्धर्व)	लाडलिवी (लाट) पारसी (पारसी)
१५.	आदंश (आदर्श)	आयंस (आदर्श)	अनिमित्तो
१६.	माहेसरी (माहेश्वरी)	माहेसरी (माहेश्वरी)	चाणक्को (चाणक्यी)
१७.	दामि (दामि)	(दोमि) (द्रोमि)	मूलदेवी (मूलदेवी)
१८.	वोलिन्द (पोलिन्दी)	पोलिदी (पोलिन्दी)	

उपर्युक्त लिपियों के नामों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि प्रज्ञापना और समवायाङ्ग की सूची लगभग समान है। मात्र दो नामों में किञ्चित् अन्तर दृष्टिगत होता है। जहाँ समवायाङ्ग में खरसाविया लिपि का उल्लेख मिलता है वहाँ प्रज्ञापना में अंतक्खरिया का उल्लेख है। और, इसी प्रकार समवायाङ्ग में उल्लिखित उच्चतरिया के स्थान पर प्रज्ञापना में पुक्खरसारिया का उल्लेख मिलता है। जहाँ तक समवायाङ्ग और प्रज्ञापना की सूचियों का विशेषावश्यक भाष्य की टीका में उल्लिखित लिपियों से तुलना का प्रश्न है इस सूची का समवायाङ्ग और प्रज्ञापना में प्राप्त सूचियों से कोई भी सामञ्जस्य नहीं है, केवल जवणी (यवनी) को छोड़कर शेष सूची भिन्न ही है। इस सम्बन्ध में एक और विचारणीय प्रश्न यह भी है कि प्रज्ञापनासूत्र के मूलपाठ में इन सभी लिपियों को ब्राह्मीलिपि के ही लेखविधान अर्थात् प्रकार कहा गया है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्राह्मीलिपि के निम्न अठारह लेख-विधान हैं। अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या समवायाङ्ग और प्रज्ञापना में उल्लिखित ये लिपियाँ स्वतन्त्र लिपियाँ थीं या ब्राह्मीलिपि के ही उपप्रकार थे क्योंकि वर्तमान में अधिकांश विद्वान् खरोष्टीलपि को एक स्वतन्त्र लिपि के रूप में स्वीकार करते हैं। अतः इस सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता है। यद्यपि विशेषावश्यक भाष्य की टीका में जिन लिपियों का वर्णन हुआ है उनमें से अधिकांश को ब्राह्मीलिपि का ही विकसित रूप कहा जा सकता है।

लिपियों के सम्बन्ध में एक सूची हमें बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर में भी मिलती है। उसमें निम्न ६४ लिपियों का उल्लेख मिलता है—१. ब्राह्मीलिपि, २. खरोष्ठीलिपि, ३. पुष्करसारी, ४. अंगलिपि, ५. वंगलिपि, ६. मगधलिपि, ७. मंगल्यलिपि, ८. अंगुलीयलिपि, ९. शकारलिपि, १०. ब्रह्मवलीलिपि, ११. पारुष्यलिपि, १२. द्राविडलिपि, १३. किरातलिपि, १४. दाक्षिण्यलिपि, १५. उग्रलिपि, १६. संख्यालिपि, १७. अनुलोमलिपि, १८. अवमूर्धलिपि, १९. दरदलिपि, २०. खाष्यलिपि, २१. चीनलिपि, २२. लूनलिपि, २३. हूनलिपि, २४. मध्याक्षरविस्तरलिपि, २५. पुष्पलिपि, २६. देवलिपि, २७. नागलिपि, २८. यक्षलिपि, २९. गन्धर्वलिपि, ३०. किन्नरलिपि, ३१. महोरगलिपि, ३२. असुरलिपि, ३३. गरुडलिपि, ३४. मृगचक्रलिपि, ३५. वायसस्तलिपि, ३६. भौमदेवलिपि, ३७. अन्तरिक्षदेवलिपि, ३८. उत्तरकुह्वीलिपि, ३९. अपरगोदानीयलिपि, ४०. पूर्णविदेहलिपि, ४१. उत्क्षेपलिपि, ४२. निक्षेपलिपि, ४३. विक्षेपलिपि, ४४. प्रक्षेपलिपि, ४५. सागरलिपि, ४६. वज्रलिपि, ४७. लेखप्रतिलेखलिपि, ४८. अनुपद्रुतलिपि, ४९. शास्त्रावर्तलिपि, ५०. गणनावर्तलिपि, ५१. उत्क्षेपावर्तलिपि, ५२. निक्षेपावर्तलिपि, ५३. पादावर्तलिपि, ५४. द्विहस्तरपदसंघलिपि, ५५. अध्याहारिणीलिपि, ५६. सर्वस्तसंग्रहणीलिपि, ५७. विद्युनालोमाविमिश्रितलिपि, ५८. ऋषितपस्तमालिपि, ५९. रोचमानालिपि, ६०. धरणीप्रेक्षणीलिपि, ६१. गगनप्रेक्षणीलिपि, ६२. सर्वौषधिनिष्यन्दालिपि, ६३. सर्वसारसंग्रहणीलिपि, ६४. सर्वभूतस्तग्रहणीलिपि (परिवर्त १०)।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि ललितविस्तर में उल्लिखित निम्न लिपियाँ उपर्युक्त जैन परम्परा की तीनों सूचियों में कहीं न कहीं उपलब्ध हो जाती हैं—१. ब्राह्मी, २. खरोष्ठी, ३. पुष्करसारी, ४. द्राविड, ५. संख्यालिपि (अंकलिपि), ६. यक्षलिपि ७. गन्धर्वलिपि, ८. अन्तरिक्षलिपि, ९. असुरलिपि (राक्षसलिपि) आदि।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जैन सूचियों में उल्लिखित अनेक लिपियाँ ऐसी हैं जिनका समावेश ललितविस्तर की सूची में नहीं हुआ है। बौद्ध ग्रन्थ 'सुत्तन्त' में अक्खरिकाखे का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः यह समवायाङ्ग में सूचित अन्तरिक्षिया हो। उपर्युक्त लिपियों में अनेक लिपियाँ ऐसी हैं जिनका चाहे किसी समय अस्तित्व रहा हो किन्तु आज उनके अस्तित्व के हमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते हैं। समवायाङ्ग और प्रज्ञापना की प्राप्त लिपिसूचियों में उल्लिखित लिपियों में केवल ब्राह्मी, खरोष्ठी और जवणी ही ऐसी लिपियाँ हैं जिनके अभिलेख आज भी प्राप्त हैं। शेष लिपियों के सम्बन्ध में आज निश्चयात्मक रूप से कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। यद्यपि निह्णविका को गुप्त या सांकेतिक लिपि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यह कोई गुप्तलिपि रही होगी, क्योंकि जैन परम्परा में निह्णव शब्द छिपाने के अर्थ में प्रचलित रहा है। अंकलिपि और गणितलिपि के अस्तित्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि दक्षिण में विश्वेश्वर के निवासी यलप्पा शास्त्री के पास इस लिपि में लिखा हुआ एक करोड़ श्लोकों का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ था जिसे तत्कालीन राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद आदि कई लोगों ने देखा। इस ग्रन्थ को संख्याओं में लिखा गया था। संख्यात्मक संकेतों के आधार पर उसमें विभिन्न विषयों के अनेक ग्रन्थ समाहित थे। इसी प्रकार गान्धर्वलिपि गन्धार देश की और भूतलिपि भूटान देश की लिपि मानी जा सकती है। माहेश्वरीलिपि माहेश्वरी जाति—जो कि वैश्यों की एक जाति है—की लिपि मानी जा सकती है। विशेषावश्यक भाष्य में उल्लिखित यवनी, कीरो (कीटलिपि)

तुर्की, उडिया, मालवी, लाटलिपि, सिन्धवल्लिपि, पारसीलिपि, नागरीलिपि आदि ऐसी लिपियाँ हैं, जिनका स्वतन्त्र लिपि के रूप में हमें उल्लेख उपलब्ध हो जाता है और जिनमें से अनेक आज भी प्रचलित हैं ।

यद्यपि लिपियों की इस चर्चा का जैन भाषा दर्शन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु इतना तो अवश्य हो है कि लिपि भाषा को सांकेतिक अभिव्यक्ति-सामर्थ्य की ही सूचक है। जैनों ने जिन तीन प्रकार के अक्षरों का उल्लेख किया है उनमें संज्ञा-अक्षर का सम्बन्ध लिपि से है तो व्यञ्जन अक्षर का सम्बन्ध ध्वनि से है जबकि लब्धि-अक्षर का सम्बन्ध इन्हीं लिखित या उच्चरित संकेतों के आधार पर होने वाले अर्थबोध-सामर्थ्य से है। भाषा का मूल उत्स तो अर्थबोध ही है। भाषा लेखविधान या ध्वनिसंकेतों के माध्यम से अपना अर्थबोध देती है। लिपि-संकेत और ध्वनि संकेत वस्तुतः अर्थबोध कराने के साधन हैं और साधन के रूप में ही इनका महत्त्व है। इन लिपि संकेतों या ध्वनि-संकेतों के माध्यम से शब्द, पद और वाक्य बनते हैं जो कि श्रोता या पाठक को वक्ता या लेखक की भावाभिव्यक्ति के समझने में सहायक होते हैं ।



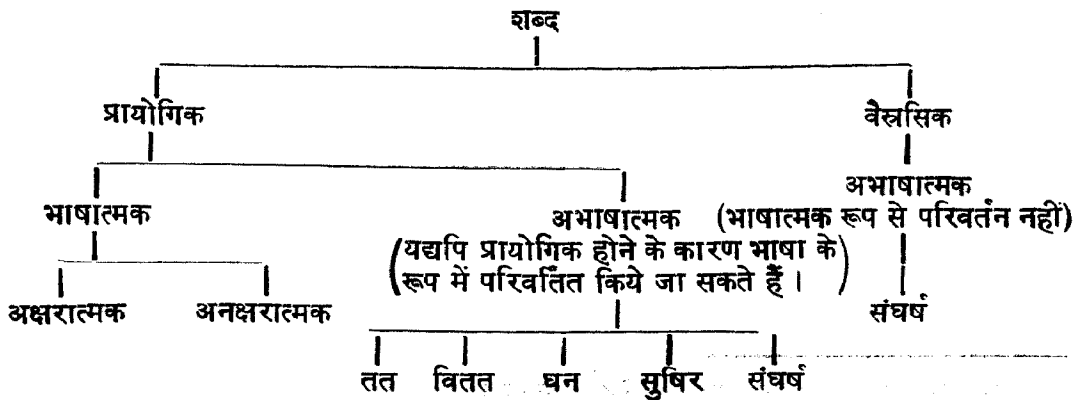
१. विशेषरूप से द्रष्टव्य—(अ) समवायांग १८ वां समवाय

(ब) प्रज्ञापना प्रथमपद ७१

(स) विशेषावश्यक भाष्य (मल्लधारगच्छीय हेमचन्द्र की टीका) गाथा ४६४

जैन शब्द-दर्शन

भाषा और शब्द—प्रज्ञापनासूत्र का प्रथम प्रश्न भाषा के प्रादुर्भाव से सम्बन्धित है, तो दूसरा प्रश्न भाषा की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है। भाषा की अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में महावीर का प्रत्युत्तर यह था कि भाषा शरीर से अर्थात् शारीरिक प्रयत्नों से उत्पन्न या अभिव्यक्त होती है।^१ जैन दार्शनिकों ने शब्दों को दो विभागों में बाँटा है—(१) प्रायोगिक और (२) वैज्ञसिक।^२ साथ ही यह भी माना है कि भाषा प्रायोगिक शब्दों से ही बनती है, वैज्ञसिक शब्दों से नहीं। भाषा जीव के शारीरिक प्रयत्नों का परिणाम है। अतः प्रज्ञापना का यह कथन समुचित ही है कि भाषा शरीर से उत्पन्न होती है। भाषा के लिए न केवल इन्द्रिय-युक्त शरीर आवश्यक है अपितु वक्ता और श्रोता में बुद्धि या विचार-सामर्थ्य का होना भी आवश्यक है। भाषा श्रुतज्ञान है और श्रुतज्ञान अनिवार्य रूप से मतिज्ञान पूर्वक ही सम्भव है, पुनः मतिज्ञान के लिए इन्द्रिय और मन का होना आवश्यक है। अतः भाषा चाहे वह ध्वनि-संकेत के रूप में हो या अन्य शारीरिक संकेतों के रूप में हो वह इन्द्रियों और बौद्धिक मन के माध्यम से ही सम्भव होती है। जीव के, अपने शरीर के माध्यम से, भावनाओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति के जो प्रयत्न होते हैं, वे ही भाषा का रूप ग्रहण करते हैं और यही भाषा की उत्पत्ति / अभिव्यक्ति का आधार है। इस दृष्टि से प्रज्ञापना का यह कथन कि भाषा की उत्पत्ति शरीर/शारीरिक प्रयत्नों से होती है, समुचित ही है। यद्यपि सभी प्रकार के शारीरिक संकेतों से होने वाले अर्थ-बोध को भाषा कह सकते हैं, किन्तु सामान्यतया जब हम मानवीय सन्दर्भों में भाषा की बात करते हैं तो हम उसमें सभी प्रकार के शारीरिक संकेतों का समावेश न करके केवल ध्वनि-संकेतों का समावेश करते हैं इस दृष्टि से मानवीय भाषा अक्षरात्मक या शब्दात्मक कही जा सकती है। यद्यपि यह सत्य है कि भाषा शब्दात्मक होती है, किन्तु सभी शब्द भाषात्मक नहीं होते हैं। जैन चिन्तकों ने शब्दों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है—



१. भासां णं भंते ! किं पवहा ? गोयमा । सरीरप्यभवा भासा ।—प्रज्ञापना, भाषापद ११।१५ ।

२. तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक—पं० सुखलाल संघवी, पृ० १२९ ।

प्रथमतः प्रयत्नजन्यता की दृष्टि से शब्दों के प्रायोगिक और वैज्ञानिक ऐसे दो विभाग भी किये हैं। प्रायोगिक शब्द वे हैं, जिनकी ध्वनि जीव के प्रयत्नों से उत्पन्न होती है जबकि वैज्ञानिक शब्द वे हैं, जिनकी ध्वनि जड़ वस्तुओं के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न होती है। वैज्ञानिक शब्द अनिवार्यतः अभाषात्मक होते हैं जबकि प्रायोगिक शब्द भाषात्मक एवं अभाषात्मक दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। भाषात्मक प्रायोगिक शब्द भी अक्षरात्मक एवं अनक्षरात्मक के भेद से दो प्रकार के माने गये हैं। इनमें जो ध्वनि वर्णों या अक्षरों से युक्त होती है वह अक्षरात्मक कही जाती है और जो ध्वनि वर्णों या अक्षरों से रहित होती है वह अनक्षरात्मक कही जाती है। जड़ वस्तुओं से जो ध्वनि निःसृत की जाती है वह अभाषात्मक प्रायोगिक शब्द है। यह अभाषात्मक प्रायोगिक शब्द पाँच प्रकार के माने गये हैं—

१. तत—चमड़े से लपेटे हुए वाद्यों से निःसृत शब्द तत कहे जाते हैं।
२. वितत—सारंगी, वीणा आदि तार वाले वाद्यों से निःसृत होने वाले शब्द वितत कहे जाते हैं।
३. घन—झालर, घण्ट आदि पर आघात करने से जो शब्द होता है वह घन कहा जाता है।
४. सुषिर—फूँक कर बजाये जाने वाले शंख आदि के शब्द को सुषिर कहते हैं।
५. संघर्ष—दो वस्तुओं का घर्षण करके उनसे जो शब्द उत्पन्न किया जाता है उसे संघर्ष कहते हैं। जैसे—झाँझ।

यद्यपि स्वरूपतः ये सभी अभाषात्मक कहे गये हैं, किन्तु प्रायोगिक (प्रयत्नजन्य) होने के कारण इनसे होने वाली शब्द ध्वनियों को भाषात्मक रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। संगीत के स्वर इन्हीं वाद्यों से ही तो निकाले जाते हैं। अतः मेरी दृष्टि में इनमें भाषात्मक रूप में परिणत होने की क्षमता तो मानना ही होगा। ध्वला में कहा गया है कि नगारे आदि के शब्दों को उपचार से भाषात्मक कहा जाता है।^२

अतः तत, वितत आदि वाद्यों से निकली शब्दध्वनि में भी किसी सीमा तक अक्षरात्मक ध्वनि हो सकती है। फिर भी वह स्पष्ट नहीं है, अतः उन्हें भाषात्मक शब्दध्वनि में अन्तरभावित नहीं किया गया है।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि जब जीव के प्रयत्नों के द्वारा संघर्ष करके जो ध्वनि निकाली जाती है तो वह प्रायोगिक होती है किन्तु स्वाभाविक रूप से ही जब पदार्थों के संघर्ष से ध्वनि निकलती है तो वह वैज्ञानिक कही जाती है—जैसे बादलों की गर्जना से होनेवाला शब्द। यह पूर्णतः अभाषात्मक है।

-
१. तत्थ तदो णाम वीणा-तिसरिआलावणिव्वीस खुक्खुणादिजणिदो । वितदो णाम भेरीमुद्दिगपट्टहादिसमुम्भूदो । घणो णाम जयघंटादिघणदव्वाणं संघादुट्ठाविदो । सुसिरो णाम वंस-संख काह्लादिजणिदो । घोसो णाम घस्समाणदव्वजणिदो ।

—ध्वला, ९३/४, ५, २६/२०१/७ (उद्धृत—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग ४, पृष्ठ ३)

२. द्रष्टव्य—ध्वला १४/५-६, ८३/६१/१२—उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग ४, पृ० ३।

शब्द की परिभाषा

शब्द ध्वनि-संकेत है, फिर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि सभी प्रकार की ध्वनियाँ शब्द नहीं कही जा सकती हैं। भाषा के सन्दर्भ में 'शब्द' का तात्पर्य वर्णात्मक (अक्षरात्मक) सार्थक ध्वनि-संकेत से है। अभिधानराजेन्द्रकोश में शब्द को जैनाचार्यों द्वारा दी गई कतिपय परिभाषाओं का उल्लेख हुआ है। सामान्यतया श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य वर्णों की नियत क्रम में होनेवाली ध्वनि को 'शब्द' कहा जाता है। यद्यपि शब्द की यह परिभाषा उसके समग्र स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करती है क्योंकि शब्द मात्र वर्णों की नियत क्रम में होनेवाली ध्वनि नहीं है किन्तु अर्थबोध भी उसका अपरिहार्य तत्त्व है। वर्णों की नियत क्रम में होनेवाली ध्वनि से अर्थबोध होता है। इनमें निम्न तीन बातें आवश्यक हैं—(१) ध्वनि का वर्णात्मक या अक्षरात्मक होना, (२) उसका नियत क्रम में होना और (३) उसके द्वारा अर्थबोध का होना। शब्द के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'शब्दतेप्रतिपाद्यते वस्त्वनेनेति शब्दः' अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ या वस्तु का प्रतिपादन होता है यही शब्द है।^१

शब्द की इस परिभाषा को पुष्टि पंतजलि के महाभाष्य की वृत्ति से भी होती है, उसमें कहा गया है—'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीयाः इति भगवानुपवर्षः। श्रोत्रग्रहणे ह्यर्थे शब्दशब्दः प्रसिद्धः। यद्येवमर्थप्रत्ययो नोपपद्यते। अतो गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽस्ति, यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्'।^२ अर्थात्, 'शब्द उस ध्वनिसमूह को नहीं कहते, जिनके संयोग से तथा-कथित शब्द-रूप बनता है, बल्कि शब्द वह है जिससे किसी अर्थ का विनिश्चय या प्राप्ति होती है'। वस्तुतः शब्द अर्थ (वस्तु) का प्रतिपादक होता है। वाच्यार्थ का प्रतिपादन ही शब्द की शक्ति है। यदि उससे वस्तुतत्त्व (वाच्य-विषय या अर्थ) का प्रतिपादन नहीं होता है तो वह निरर्थक ध्वनि ही होगी। सार्थक ध्वनि ही शब्द कही जाती है। भर्तृहरि ने शब्द को अर्थ से अवियोज्य माना है।^३ जैनाचार्यों ने भी शब्द और अर्थ में अवियोज्य सम्बन्ध तो माना है फिर भी वे उनमें तद्रूपता या तादात्म्य सम्बन्ध नहीं मानते हैं, मात्र वाच्यवाचक सम्बन्ध मानते हैं। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर हमने आगे चर्चा की है। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य यही है कि वस्तु वाच्यत्व ही शब्द का वास्तविक धर्म है। जैन के अनुसार शब्द वह है जिसमें वाच्यार्थ की सांकेतिक शक्ति है। वाच्यत्व का गुण शब्द में है किन्तु उसका वाच्य उससे भिन्न है। शब्द वाचक है और वस्तु वाच्य है।

भाषायीज्ञान में अर्थबोध की प्रक्रिया

जैनों के अनुसार भाषाज्ञान्य ज्ञान श्रुतज्ञान है। शब्द को सुनकर उसके वाक्यार्थ को जानना तथा उसके ज्ञात अर्थ को पुनः शब्दों के माध्यम से प्रतिपादित करना श्रुतज्ञान का कार्य है। श्रुत-ज्ञान का मूल आधार शब्द का उच्चारण और श्रवण है।

शब्दों को सुनकर अर्थ का बोध किस प्रकार होता है यह एक विचारणीय प्रश्न है। भाषा

१. श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यनियतक्रमवर्णात्मनि ध्वनौ।—अभिधानराजेन्द्र भाग ७ पृ० ३३८।

२. प्रतिपाद्यते वस्त्वनेनेति शब्दः।—वही।

३. भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, पृष्ठ ११७।

४. नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।—वाक्यपदीय १।२३।

में प्रयुक्त शब्दों के दो रूप हैं—लिखित और उच्चरित। लिखित शब्द से अर्थ-बोध चक्षु-इन्द्रिय के माध्यम से होता है, जबकि उच्चरित एवं श्रव्य भाषा में अर्थ-बोध श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम से होता है। वैसे यदि हम भाषा को व्यापक अर्थ में ग्रहण करें और उसमें अनक्षरात्मक संकेतों को भी स्वीकार करें तो कुछ स्थितियों में हमारी स्पर्शेन्द्रिय से भी अर्थबोध होता है। इस प्रकार अर्थबोध का साधन तीन इन्द्रियाँ होती हैं—स्पर्शेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय। साथ ही विचारशील मन अर्थात् बुद्धि के अभाव में भी मात्र इन्द्रियों से अर्थबोध संभव नहीं है। ध्वन्यात्मक संकेतों को हम कर्णेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करके अर्थ ग्रहण करते हैं, जबकि लिखित संकेतों को हम चक्षुइन्द्रिय से देखकर दूसरे शब्दों में पढ़कर अर्थबोध ग्रहण करते हैं। जब संकेत इस प्रकार के हों कि उनका बोध स्पर्श के द्वारा सम्भव हो सके तो हम स्पर्शेन्द्रिय के माध्यम से भी अर्थ-बोध करते हैं। अन्धे व्यक्ति ब्रेललिपि को स्पर्शेन्द्रिय से ही पढ़कर अर्थबोध करते हैं। जैन आचार्यों ने अर्थ-बोध में इन तीनों ही इन्द्रियों और मन को उपयोगी माना है। अच्छा होगा कि हम इन तीनों इन्द्रियों एवं मन की इस ज्ञानात्मक प्रक्रिया पर विचार करें।

जैनाचार्यों की दृष्टि से वक्ता में जब अपने विचारों और भावनाओं को दूसरों के प्रति अभिव्यक्त करने की इच्छा होती है तो सर्वप्रथम मनस् (मनोयोग) सक्रिय होता है। मनस् के सक्रिय होने से वाक् (वचनयोग) सक्रिय होता है। वाक् के सक्रिय होने से शरीर (काययोग) सक्रिय होता है। शरीर के सक्रिय होने पर वक्ता का स्वरयन्त्र भाषा वर्गणा के परमाणुओं अर्थात् ध्वनिरूप में परिवर्तित होने योग्य पुद्गलों परमाणुओं का ग्रहण करता है। फिर उनका भाषारूप में परिणमन करता है अर्थात् उन्हें विशिष्ट शब्दध्वनियों के रूप में परिवर्तित करता है और अन्त में उन ध्वनि रूपों का उत्सर्जन करता है अर्थात् उन्हें बाहर निकालता है। ध्वनिरूप में निकले ये भाषायी पुद्गल आकाश में ध्वनितरंग के रूप में प्रसारित होते हैं। जैन दार्शनिकों ने इन ध्वनितरंगों को प्रसरणशील बताया भी है। प्रज्ञापना सूत्र में कहा गया है कि भाषावर्गणा की ध्वनितरंगें लोकान्त तक जाती हैं।^१

शब्द-ध्वनि के प्रसरण की यह प्रक्रिया निम्नरूप में घटित होती है। सर्वप्रथम ध्वनि रूप में निःसृत पुद्गल अपने समीपस्थ पुद्गल स्कन्धों को प्रकम्पित कर अपनी शक्ति के अनुरूप उन्हें शब्दायमान करते हैं। दूसरे शब्दों में उन ध्वनिरूप पुद्गलों के निमित्त से भाषावर्गणा के दूसरे पुद्गलों में भी शब्द-पर्याय उत्पन्न हो जाती है, वे शब्दायमान दूसरे पुद्गल पुनः अपने समीपस्थ पुद्गलों को शब्दायमान करते हैं और इस प्रकार क्रमशः उत्पन्न होती हुई ये ध्वनि-तरंगें भाषा-वर्गणा के पुद्गलों के माध्यम से वीचितरंगन्याय की भाँति लोकान्त तक पहुँच जाती हैं। जिस प्रकार जलाशय में फेंके गये एक पत्थर से प्रकम्पित जल में उत्पन्न तरंगें अपने समीपस्थ जल को क्रमशः प्रकम्पित करते हुए जलाशय के तट तक पहुँच जाती हैं, उसी प्रकार शब्द-ध्वनियाँ भी लोकान्त तक अपनी यात्रा करती हैं।^२ फिर भी ध्वनि की प्रसरणक्षमता वक्ता की शक्ति पर निर्भर करती है, कुछ ध्वनि-तरंगें वक्ता के स्वरयन्त्र से निकलकर दूर तक श्रव्यरूप में जाती हैं जबकि कुछ थोड़ी दूर जाकर अश्रव्य बन जाती हैं। अतः यह आवश्यक नहीं है कि सभी शब्द लोकान्त

१. भाषालीगंतपञ्जबसिया पण्णत्ता ।—प्रज्ञापनासूत्र भाषापद, १५ ।

२. द्रष्टव्य-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ४ पृ० ३ ।

तक श्रव्यरूप में ही पहुँचें। यह श्रव्यमान ध्वनि तीन प्रकार की हो सकती है—उच्चरित, वासित, उच्चरित-वासित (मिश्र)। इसमें वक्ता द्वारा बोला गया मूल शब्द उच्चरित है। वक्ता द्वारा बोला गया यह शब्द जब अपने अनुरूप दूसरी ध्वनितरंगों को उत्पन्न करता है और वे दूसरी ध्वनितरंगें जब श्रोता तक पहुँचती हैं तब वह शब्द वासित होता है अर्थात् उन उच्चरित शब्दों से प्रकम्पित या शब्दायमान होकर जो अन्य शब्द-ध्वनि निकलती है, वह वासित होती है जैसे ध्वनिविस्तारक यन्त्र से निकले शब्द तथा जिस ध्वनि में उच्चरित और वासित दोनों प्रकार की शब्द-ध्वनियाँ रहती हैं वह उच्चरित-वासित (मिश्र) शब्दध्वनि होती है। इसी प्रकार वक्ता की दृष्टि से भी ध्वनि या द्रव्यभाषा तीन प्रकार की मानी गयी है—ग्रहण, निःसरण और पराधात।^१ वचनयोग वाली आत्मा अर्थात् वक्ता द्वारा गृहीत भाषावर्गणा के पुद्गल—ग्रहण, उसके द्वारा उच्चरित भाषावर्गणा के पुद्गल—निःसरण और उच्चरित भाषावर्गणा के पुद्गल द्वारा संस्कारित (वासित) अन्य भाषावर्गणा के पुद्गल—पराधात।

दार्शनिक दृष्टि से यहाँ प्रथम महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि श्रोत्रेन्द्रिय शब्द का ग्रहण किस प्रकार से करती है। बौद्धों ने चक्षुइन्द्रिय के साथ-साथ श्रोत्रेन्द्रिय को भी अप्राप्यकारी माना है अर्थात् उनके अनुसार चक्षु के समान श्रोत्रेन्द्रिय भी अपने विषय का ग्रहण दूर से बिना उनका संस्पर्श किये ही करती है। बौद्धों की इस धारणा के विपरीत जैन दार्शनिकों की मान्यता यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्यकारी है। जब ध्वनि का श्रोत्रेन्द्रिय से संस्पर्श होता है तभी शब्द-ज्ञान होता है। फिर ध्वनि चाहे दूर देश में ही उत्पन्न क्यों न हो। उनके अनुसार ध्वनि अपने प्रसरणशील स्वभाव के कारण कर्णेन्द्रिय तक पहुँचती है और वहाँ पहुँचकर श्रोता को शब्दबोध कराती है। जैन दार्शनिकों के अनुसार ध्वनि-तरंगें पौद्गलिक एवं प्रसरणशील स्वभाववाली हैं। यद्यपि मीमांसकों ने भी शब्द को लोकव्यापी माना था किन्तु उनकी यह अवधारणा जैनों की अवधारणा से बिल्कुल भिन्न है। उनके अनुसार शब्द उत्पन्न नहीं होता है, वह स्वरूपतः ही लोकव्यापी है। जबकि जैनों के अनुसार शब्द उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर अपने प्रसरणशील स्वभाव के कारण लोक में व्याप्त होता हुआ लोकान्त तक जाकर पर्यवसित हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनों ने सर्वप्रथम शब्द को पौद्गलिक (Material) और तरंगरूप प्रस्थापित कर उसे एक वैज्ञानिक आधार दिया है। आज वैज्ञानिक भी शब्द को इसी रूप में स्वीकार करते हैं। जहाँ तक भाषा के श्राव्य होने का प्रश्न है उनका कथन है कि भाषा वर्गणा के पुद्गल (विशेष प्रकार के भौतिक परमाणु—जिनमें ध्वनि रूप में परिवर्तित होने की योग्यता है) जीव के प्रयत्नों के द्वारा शब्द-ध्वनि के रूप में उच्चरित होते हैं अर्थात् जीव अपने शारीरिक प्रयत्नों के द्वारा विश्व में व्याप्त ध्वनि-योग्य पदार्थ (मैटर) को तरंगित करता है और ये ध्वनि-तरंगें श्रोता तक पहुँचकर श्राव्य बन जाती हैं।

यहाँ शब्द-श्रवण के माध्यम से होनेवाले अर्थबोध के सम्बन्ध में यह भी समझ लेना आवश्यक है कि वक्ता और श्रोता दोनों के मनस् में बाह्य जगत् को वस्तुओं और उनके सम्बन्धों के लिए निर्धारित समान शब्दप्रतीक या ध्वनिसंकेत होते हैं। जब वक्ता द्वारा शब्दायमान उन ध्वनि संकेतों को श्रोता सुनता है, तो उनके श्रवण से उसके मनस् में वस्तु या वस्तु-सम्बन्धों के बिम्ब उभरते हैं और उन बिम्बों के आधार पर श्रोता अर्थबोध प्राप्त करता है।

१. दब्बे तिबिहा गहणं, तहय निसिरणं पराधाओ ।—भाषारहस्यप्रकरण (यशोविजय) २।

जहाँ तक लिखित भाषा को चक्षु-इन्द्रिय से पढ़कर होनेवाले अर्थबोध का प्रश्न है, जैन नैयायिकों के विपरीत बौद्धों के समान यह मानते हैं कि चक्षु-इन्द्रिय अप्राप्यकारी है अर्थात् अपने विषय का साक्षात् सम्पर्क किये बिना दूर से ही उससे अर्थबोध प्राप्त करती है। जैनों के अनुसार लेखन और पठन की प्रक्रिया में अर्थबोध की प्रक्रिया इस प्रकार घटित होती है—सर्वप्रथम लेखक के मन में अपने भावों की अभिव्यक्ति की प्रेरणा होती है अतः वह उन भावों के शब्द प्रतीकों को कागज या अन्य किसी वस्तु पर लिख देता है, अर्थबोध करनेवाला व्यक्ति प्रथम तो उन शब्द-प्रतीकों को देखता है, फिर पूर्व अनुभव के आधार पर वे प्रतीक किस पदार्थ या वस्तु के लिए प्रयोग किये जाते हैं, यह जानता है फिर जानने के पश्चात् प्रयुक्त शब्दों से अर्थबोध करता है। जैनों के अनुसार अर्थबोध की प्रक्रिया में मन भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है, उन्होंने मन को भी अप्राप्यकारी माना है अर्थात् वह भी अपने विषय को साक्षात् सम्पर्क किये बिना ही ग्रहण करता है। वह इन्द्रियों से जो कुछ सूचना मिलती है उससे बिम्ब बनाता है और उन बिम्बों के माध्यम से ही अर्थबोध कराता है। भाषा सम्बन्धी अर्थबोध में मन अव्यवहित (Direct) और इन्द्रियाँ व्यवहित (Indirect) कारण हैं। वस्तुतः जो जीव आध्यात्मिक दृष्टि से जितना विकसित क्षमता वाला होता है उसमें भाषावर्गणा के पुद्गलों को भाषा के रूप में परिणत करने की तथा उच्चरित एवं लिखित शब्दों से अर्थबोध करने की शक्ति भी उतनी ही अधिक होती है। हमारी भाषायी सम्प्रेषणीयता हमारे दैहिक और बौद्धिक विकास पर ही निर्भर करती है जिसे जैनों ने अपनी पारिभाषिक शब्दावली में नामकर्म के क्षयोपशम का परिणाम माना है। जिस प्राणी के नाम-कर्म का क्षयोपशम जितना अधिक होगा उसकी भाषायी सम्प्रेषणीयता और ग्रहणशीलता भी उतनी ही समर्थ होगी।

क्या भाषा रूप में परिणत शब्द पौद्गलिक ही है ?

सामान्यतया जैन दार्शनिकों ने शब्द को पुद्गल की पर्याय माना है। उत्तराध्ययन, तत्त्वार्थ-सूत्र आदि सभी ग्रन्थों में उसे पौद्गलिक माना गया है। यह निश्चित सत्य है कि शब्द ध्वनि पुद्गल की पर्याय है। किन्तु भाषा रूप में परिणत अर्थबोध करानेवाले शब्द को एकान्त रूप से पौद्गलिक या जड़ मानना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि स्वयं जैनों के अनुसार भी भाषा की उत्पत्ति जीव अर्थात् चेतन सत्ता से मानी गयी है। साथ ही यह भी माना गया है कि अक्षरात्मक भाषा प्रायोगिक शब्दों से बनती है, चूँकि प्रायोगिक शब्द वे हैं जिन्हें जीव जड़ के सहयोग से उत्पन्न करता है, अतः एकान्त रूप से उन्हें जड़ नहीं कहा जा सकता। शब्द ध्वनि चाहे जड़ या पुद्गल की पर्याय हो किन्तु शब्द की उत्पत्ति जीव के प्रयत्न के परिणामस्वरूप ही होती है। पुनः शब्द के अर्थ-बोध के लिए और भाषा की अभिव्यक्ति के लिए एक बुद्धियुक्त चेतन सत्ता की आवश्यकता होती है, अतः भाषा केवल जड़ का परिणाम नहीं है। वह जड़ और चेतन के सहयोग का ही परिणाम है। भाषा प्रयत्नजन्य है और प्रयत्न के लिए चेतन सत्ता का होना आवश्यक है। अतः जैनों के अनुसार भी भाषा को एकान्त रूप से जड़ अथवा एकान्त रूप से चेतन नहीं कहा जा सकता है, वह उभय के संयोग का परिणाम है। दूसरे शब्दों में वह एक बुद्धियुक्त चेतन शरीर के प्रयत्नों का परिणाम है। भाषा जड़ और चेतन का संयुक्त परिणाम है अतः वह एकान्ततः जड़ या चेतन नहीं है। शब्द ध्वनि एवं अक्षर-चिह्न निश्चय ही भौतिक संरचनायें हैं, किन्तु उनके द्वारा किया गया अर्थ-संकेत और अर्थ-बोध बुद्धियुक्त चेतन सत्ता के बिना सम्भव नहीं है।

जैनों के अनुसार भी एक ओर शुद्ध आत्म तत्त्व के रूप में सिद्ध को अभाषक कहा गया है, तो दूसरी ओर शुद्ध जड़तत्त्व भी अभाषक है। भाषा जीव के प्रयत्नों का परिणाम है किन्तु यह प्रयत्न सशरीरी जीव के द्वारा ही सम्भव है। जब तक श्रोता और वक्ता दोनों ही बुद्धियुक्त न हों, ध्वनि संकेतों और अन्य संकेतों से कोई अर्थ-बोध नहीं होता।

भाषा का कार्य है अर्थबोध कराना तथा अर्थबोध करना और यह सामर्थ्य केवल बुद्धियुक्त चेतन प्राणियों में ही सम्भव है। भाषायी संकेत चाहे वे ध्वनिसंकेत हों, लिपिसंकेत हों या अन्य किसी प्रकार के संकेत हों, संकेत रूप में जड़ हो सकते हैं, किन्तु उनसे होने वाला अर्थ-बोध सदैव चेतन है और यही अर्थ-बोध भाषा का मूल प्राण है। अतः भाषा चेतन जगत् का एक व्यवहार है जिसके उपकरण जड़ हैं किन्तु उनका प्रयोग चेतन सत्ता के द्वारा ही होता है।

शब्द की आण्विक संरचना का सिद्धान्त—

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्द की आण्विक संरचना के सिद्धान्त का संकेत किया है, किन्तु उसके टीकाकारों ने इस सम्बन्ध में अधिक कुछ प्रकाश नहीं डाला कि यह सिद्धान्त किन विचारकों का है। स्पष्ट है कि यह जैनमत है क्योंकि जैनविचारक ही शब्दों को भौतिक संरचना एवं पुद्गल पर्याय मानते हैं। जैनों ने भाषा अर्थात् शब्दध्वनि को एक विशेष प्रकार के पुद्गलों से उत्पन्न माना है। शब्द को पुद्गल का पर्याय बतलाया गया है। पुद्गल की विविध पर्यायों (अवस्थाओं) में एक पर्याय शब्द भी है।

न्याय दार्शनिकों ने जैनियों के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। वे कहते हैं कि यदि शब्द भौतिक है, तो उनमें स्पर्श गुण होना चाहिए। नैयायिकों की दूसरी आपत्ति यह है कि यदि शब्द पुद्गल रूप है तो उसे किन्हीं अवरोधों से बाधित होना चाहिए। उनकी तीसरी आपत्ति यह भी है कि यदि शब्द भौतिक होते तो उनके अवयव होते किन्तु शब्दों के कोई अवयव नहीं पाये जाते हैं, इसी प्रकार उनकी चौथी आपत्ति यह है कि यदि शब्द एक भौतिक संरचना है तो दूसरे अणुओं या स्कन्धों से उनकी टकराहट होना चाहिए। लेकिन ये सब गुण शब्दों में नहीं पाए जाते हैं, अतः नैयायिकों के अनुसार शब्दों को पुद्गल का पर्याय मानना या भौतिक संरचना मानना एक असंगत कल्पना है।

नैयायिकों की इन आपत्तियों के विरुद्ध जैनियों का कहना है कि ये आपत्तियाँ उनके सिद्धान्तों पर लागू नहीं होतीं।

१. शब्दों में स्पर्श गुण होते हुए भी वह अव्यक्त रह सकता है और हमारी स्पर्श-इन्द्रिय से आग्राह्य बना रह सकता है। संसार में अनेक ऐसी सूक्ष्म भौतिक संरचनाएँ हैं, जिन्हें हमारी स्पर्श-इन्द्रिय ग्रहण नहीं कर पाती हैं। यह बहुत ही स्पष्ट है कि शब्दों की संवेदना वायु के आधार पर निर्भर करती है। अनेक स्थितियों में अनुकूल दिशा की वायु होने पर दूर के शब्द भी सुने जा सकते हैं। किन्तु प्रतिकूल वायु होने पर पास के शब्द भी सुनाई नहीं देते। इससे यही सिद्ध होता है कि शब्दों में वायु या दूसरे भौतिक पदार्थों के समान ही स्पर्श गुण है।

२. दूसरी आपत्ति के सम्बन्ध में जैनियों का कहना है कि प्रथम तो पौद्गलिक शब्दों का अवरोधों से बाधित होना भी आवश्यक नहीं है। जिस प्रकार गन्ध के परमाणु कुछ बाधाओं के

होते हुए भी जैसे दरवाजे बन्द होने पर भी कमरे में प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार शब्द भी प्रवेश कर जाते हैं। पुनः आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों के आधार पर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि गहन अवरोध के होने पर अथवा वायु शून्यता की स्थिति में शब्दों का श्रवण या शब्दगति बाधित हो जाती है। अतः जैनियों का शब्द की पौद्गलिकता का सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक संगतिपूर्ण है।^१

३. तीसरे सावयव होना भी शब्दों के भौतिक होने की आवश्यक शर्त नहीं मानी जा सकती है। प्रकाश और अणु भौतिक संरचनाएँ हैं, फिर भी वे निरवयव हैं। जो भी भौतिक होगा वह सभी सावयव होगा—ऐसा सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता है। अतः शब्दों का भौतिक होना उनके सावयव होने की अनिवार्य शर्त नहीं है।

४ चौथी आपत्ति के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों का प्रत्युत्तर यह है कि गन्ध के परमाणुओं की तरह शब्द के परमाणु भी दूसरों से बिना टकराए अबाधित रूप से प्रवेश करने की सामर्थ्य रखते हैं। जिस प्रकार नासिका के बालों से बिना टकराये ही गन्ध के परमाणु नासिका में प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार शब्द के परमाणु श्रोत्रेन्द्रिय में प्रवेश कर जाते हैं। पुनः जैन दार्शनिक तो शब्द (ध्वनि) की उत्पत्ति भाषा-वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं के प्रयत्नजन्य पारस्परिक संघर्ष से ही मानते हैं। पुनः उनकी मान्यता है कि भाषा-वर्गणा के पुद्गल परमाणु एक-दूसरे को शब्दायमान करते हुए या वासित करते हुए आगे गति करते हैं और इससे उनकी पौद्गलिकता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है।^२

वैयाकरणिकों ने भी नेयायिकों के समान ही जैनों के शब्दस्वरूप की आलोचना की है। उन्होंने भी शब्द को पौद्गलिक मानने के सम्बन्ध में वे ही आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं जो नेयायिकों ने प्रस्तुत की हैं। अतः उनकी आलोचनाओं का पृथक् से प्रत्युत्तर देना आवश्यक नहीं है। आज हम विज्ञान के युग में जी रहे हैं और विज्ञान ने शब्द के पौद्गलिक स्वरूप को सिद्ध कर दिया है। अतः शब्दध्वनि को पौद्गलिक मानने के सम्बन्ध में किसी को भी बाधा नहीं होनी चाहिए। यद्यपि यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनों ने शब्द के भौतिक स्वरूप की जो स्थापना की है वह शब्द-ध्वनि के सम्बन्ध में है, उसके बुद्ध्यर्थ के सम्बन्ध में नहीं है। यदि हम शब्द को वक्ता और श्रोता के आशय या बुद्ध्यर्थ से सम्बन्धित करते हैं अथवा उसका तात्पर्य अर्थबोध कराना या अर्थ-बोध करना मानते हैं तो निश्चय ही वह भौतिक नहीं है। वस्तुतः यह विवाद शब्द के भाषायी अर्थ की अस्पष्टता के कारण ही है। मेरी दृष्टि में शब्द-ध्वनि को पौद्गलिक मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार यदि हम वक्ता की इच्छा और श्रोता के अर्थबोध को ही शब्द का स्वरूप मानें तो उसे चैतसिक मानने में जैनों को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। भारतीय दर्शन का दुर्भाग्य यही रहा है कि दार्शनिकों ने शब्दों को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया किन्तु जब आलोचना का प्रश्न उपस्थित हुआ तो इस बात का ध्यान नहीं रखा गया कि किस दर्शन में शब्द को किस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। जैन शब्द का जो आशय समझते हैं वह मीमांसकों के

१. The Philosophy of Word and Meaning, p. 52.

२. (अ) प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, टीका स्याद्वावरत्नाकर सूत्र ४।९, पृ० ६३९-४०।

(ब) The Philosophy of Word and Meaning, p. 53-54.

३६ : भाषादर्शन

द्वारा समझे गये शब्द के आशय से पूर्णतया भिन्न है। यदि हम परस्पर एक दूसरे के उन आशयों को समझ लें तो सम्भवतः विवाद के अधिक कारण शेष नहीं रहते। जैनों के अनुसार शब्द ध्वनिरूप है इसलिए वह भौतिक है जबकि मीमांसकों और वैयाकरणिकों के अनुसार वह बुद्धिरूप है जो कि ध्वनि का कारण है, अतः वह अभौतिक है।

जैन दार्शनिकों ने शब्द को ध्वनिरूप मानकर ही उसे पुद्गल की पर्याय माना है और इस दृष्टि से उनके अनुसार शब्द विवर्तन न होकर वास्तविक है।

शब्द की अनित्यता^१

भाषा शब्दों से बनी हुई है। शब्द भाषा के मूलभूत घटक हैं। शब्द के सम्बन्ध में सबसे प्रमुख दार्शनिक समस्या इस प्रश्न को लेकर है कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य है? इस सम्बन्ध में भारतीय दर्शन में दो मुख्य विचारधाराएँ देखी जाती हैं। एक ओर मीमांसा दर्शन और वैयाकरण दर्शन शब्द को नित्य मानते हैं तो दूसरी ओर न्याय-वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध और जैन दर्शन शब्द को अनित्य मानते हैं। जैनों का स्पष्ट विचार है कि शब्द अनित्य है क्योंकि वह उत्पन्न होता है। यद्यपि जहाँ तक मनुष्य के द्वारा बोले गए शब्दों अर्थात् ध्वनि का प्रश्न है उसकी अनित्यता के सम्बन्ध में मीमांसकों और वैयाकरणिकों को भी कोई आपत्ति नहीं है किन्तु मनुष्य द्वारा उच्चरित शब्दों अर्थात् ध्वनियों का आधार वे अनादि शब्द को मानते हैं। उनके अनुसार यही ध्वनि का कारण रूप शब्द ही नित्य माना गया है। उन्होंने शब्द को इसलिये भी नित्य माना है कि शब्दों की नित्यता के आधार पर ही वेदों की नित्यता और अपौरुषेयता निर्भर करती है। वैयाकरणिक ने शब्द को ही परम तत्त्व (शब्द-ब्रह्म) मानकर उसकी नित्यता को सिद्ध की है। शब्दों की नित्यता और अनित्यता के प्रश्न को लेकर जैन दार्शनिकों ने पर्याप्त रूप से विचार किया है। यद्यपि वे शब्द और ध्वनि में अन्तर नहीं करते हैं। शब्द से उनका तात्पर्य शब्द ध्वनि से ही है। वे शब्द को उत्पन्न मानते हैं। ज्ञानापना सूत्र में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि भाषा की उत्पत्ति शरीर से होती है और उसका पर्यवसान लोकान्त में होता है। जो उत्पन्न होता है उसका विनाश अनिवार्य है। यदि शब्द उत्पन्न है तो वह नित्य नहीं है। पुनः जैन दार्शनिकों ने शब्द को पुद्गल का पर्याय माना है और चूँकि कोई भी पर्याय नित्य नहीं होती अतः शब्द नित्य नहीं हो सकता। वस्तुतः शब्द-नित्यवाद और शब्द-अनित्यवाद का यह विवाद स्वयं भाषा की अस्पष्टता के कारण है। शब्द नित्यवादियों के अनुसार शब्द 'शब्द-ध्वनि' से भिन्न है और शब्दध्वनि का कारण है, जबकि शब्द अनित्यवादियों के लिए शब्द और शब्दध्वनि एक ही है। पुनः प्रथम वर्ग के अनुसार शब्द शब्द-ध्वनि का कारण है अतः अपौरुषेय है। जबकि दूसरे वर्ग के अनुसार शब्द ध्वनि रूप में पुरुष के प्रयत्नों का कार्य है। जहाँ तक जैन दार्शनिकों का प्रश्न है, उन्होंने शब्द को शब्द-ध्वनि के रूप में ही स्वीकार किया है और इसलिए उसे अनित्य ही माना है।

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें—

(अ) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ७०३ से ७२०।

(ब) प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ४०६ से ४२७।

(स) जैन न्याय (पं० कंलाशचन्द्र शास्त्री), पृ० ३५४ से ३६०।

जैन दार्शनिकों ने शब्द की अनित्यता के साथ-साथ शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को भी अनित्य माना है। इसकी चर्चा हम अग्रिम पृष्ठों में करेंगे।

भाषादर्शन की दृष्टि से शब्द की नित्यता अथवा अनित्यता का प्रश्न इसलिए महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है कि जहाँ एक ओर मीमांसक दार्शनिक यह मानते हैं कि यदि शब्द अनित्य है तो वह अर्थ का प्रतिपादक नहीं हो सकेगा। उनका कहना है कि यदि शब्द को अनित्य माना जायेगा तो वह उत्पन्न होते ही नष्ट हो जायेगा पुनः जिस शब्द में संकेत का ग्रहण किया गया है वह शब्द व्यवहारकाल में नहीं होगा और ऐसी स्थिति में वह अपने वाच्यार्थ का प्रतिपादक भी नहीं हो सकेगा। केवल नित्य शब्द ही अपने संकेतकाल और व्यवहारकाल में एक हो सकता है। वाचक शब्द को नित्य मानना इसलिए आवश्यक है कि उसमें ही वाच्य-वाचक रूप त्रैकालिक सम्बन्ध के आधार पर अर्थ का ज्ञान कराने की सामर्थ्य होती है।

मीमांसकों की इस मान्यता के विरोध में जैनों का कहना यह है कि शब्द में अर्थबोध की सामर्थ्य उसकी नित्यता के कारण नहीं अपितु सदृशता के कारण है। भूतकाल का उच्चरित 'गो' शब्द वर्तमानकाल के उच्चरित 'गो' शब्द से भिन्न है। फिर भी दोनों में सादृश्य है और इसी बल पर वे अपने द्वारा संकेतिक वस्तु का बोध कराते हैं। भूतकाल का 'गो' शब्द और उसका वाच्य 'गो' वर्तमान काल के 'गो' शब्द और उसके वाच्य 'गो' से किसी अर्थ में भिन्न भी है। अतः शब्द की नित्यता का अर्थबोध से कोई अपरिहार्य सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। पुनः एक ही शब्द के वाच्य विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं, इस बात को आज भाषा वैज्ञानिकों ने स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है। यदि शब्द के वाच्यार्थ बदलते रहते हैं तो फिर अर्थबोध के लिए शब्द की नित्यता को मानने का कोई औचित्य नहीं रह जाता।

शब्द अर्थ कैसे पाता है :—

शब्द को अपने वाच्यार्थ को संकेतित करने की शक्ति किस रूप में उपलब्ध है—यह प्रश्न भी भाषा दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में मुख्यतः दो प्रकार की अवधारणाएँ प्रचलित हैं। प्रथम अवधारणा यह मानती है कि शब्द में अपने वाच्यार्थ अथवा वाच्यविषय को संकेतित करने की स्वाभाविक शक्ति होती है। स्वाभाविक शक्ति से यहाँ यह तात्पर्य लगाया जाता है कि प्रत्येक शब्द अपने वाच्य विषय से अनादि रूप से सम्बन्धित है और उस शब्द के उच्चारण से वह वाच्य-विषय संकेतित हो जाता है।

किन्तु इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त यह मानता है कि शब्द में अपने वाच्यार्थ या वाच्य-विषय को संकेतित करने की शक्ति स्वाभाविक नहीं होती। शब्द में अर्थ का आरोपण किया जाता है। शब्द रूढ़ि, परम्परा या प्रयोग से अपने वाच्यार्थ को प्राप्त होता है। इस अवधारणा का सीधा और स्पष्ट अर्थ यह है कि शब्द में अपने वाच्य विषय को स्पष्ट करने की कोई स्वाभाविक शक्ति नहीं होती। वह उसे समाज, रूढ़ि या परम्परा से प्राप्त हुई है। दूसरे शब्दों में शब्द प्रयोग से अपना अर्थ पाते हैं। शब्द में अर्थ निहित नहीं होता, अपितु शब्द को अर्थ दिया जाता है।

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें—जैन न्याय, पृ० २५४-२६०।

जैन दार्शनिकों ने इन दोनों ही प्रकार के सिद्धान्तों को एकांगीरूप से ग्रहण नहीं किया अपितु यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि शब्द और उनके वाच्यार्थ का निर्धारण किसी भी एकात्मिक अवधारणा पर निर्भर नहीं है। अनेक शब्दों का अर्थ उनके 'धात्वार्थ' से फलित होता है तो दूसरी ओर अनेक शब्दों को उनके अर्थ समाज या परम्परा या प्रयोग से प्राप्त होते हैं। कुछ शब्द व्युत्पत्तिपरक हैं और कुछ शब्द रूढार्थ। जैनों के अनुसार शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण तीन सिद्धान्तों के आधार पर होता है—१. सहज योग्यता (स्वाभाविक शक्ति) २. संकेत ३. समय (परम्परा या प्रयोग)। शब्द में अपने वाच्यार्थ को संकेतित करने की शक्ति है जो अभिसमय अर्थात् परम्परा या प्रयोग से उसे उपलब्ध होती है और जिसके द्वारा वह अपने वाच्यार्थ को संकेतित करता है^१।

शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण (नामकरण)

भाषायी अभिव्यक्ति का माध्यम वाक्य है। वाक्यों की रचना साकांक्ष पदों/शब्दों से होती है। पद/शब्द अक्षरों या वर्णों से निर्मित होते हैं, किन्तु उनके वाच्यार्थ का निर्धारण नामकरण की प्रक्रिया के द्वारा होता है। जैन दार्शनिक न तो मीमांसकों के समान यह मानते हैं कि शब्द का वाच्यार्थ अनादिकाल से पूर्व-निर्धारित है और न नैयायिकों के समान यह मानते हैं कि शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण ईश्वर ने किया है, अपितु वे यह मानते हैं कि शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण अभिसमय या परम्परा से होता है। दूसरे शब्दों में समाज ही शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण करता है। वाच्यार्थ के निर्धारण की इस प्रक्रिया (Method of naming) का उल्लेख हमें जैनागम अनुयोग-द्वारसूत्र के नामद्वार से मिलना है^२। उसमें नामकरण की प्रक्रिया को नामों के दस प्रकार के वर्गीकरणों द्वारा समझाया गया है—

एकविधनाम—द्रव्य, गुण और पर्याय युक्त समग्र अस्तित्व या सत्ता 'अभिधेय' या वाच्य है। सभी शब्द मूलतः 'नाम' (Names) हैं अर्थात् किसी के वाचक हैं। समग्र अस्तित्व को उसके सर्व-सामान्य वाच्यत्व लक्षण के आधार पर 'सत्' नाम से ही अभिहित किया जा सकता है।

द्विविधनाम—अनुयोगद्वार सूत्र में नामों का द्विविध वर्गीकरण तीन आधारों पर किया गया है—(१) वर्णों की संख्या के आधार पर (२) सत्ता के जड या चेतन लक्षण के आधार पर (३) जाति (अविशेष) और व्यक्ति (विशेष) के वाचक होने के आधार पर।

वर्णसंख्या के आधार पर—

(अ) एक वर्णात्मक (एकाक्षरिक)—जैसे : ह्री, श्री, घी आदि।

(ब) अनेक वर्णात्मक (अनेकाक्षरिक)—जैसे : वीणा, लता, माला आदि।

चेतना लक्षण के आधार पर—

(अ) जीववाचक नाम—जैसे : देवदत्त, यज्ञदत्त, सोमदत्त आदि।

(ब) अजीववाचक नाम—जैसे : घट, पट, रथ आदि।

जातिवाचक अथवा व्यक्तिवाचक होने के आधार पर—

(अ) व्यक्तिवाचक नाम (विशेष वाचक/सविशेषक) जैसे—देवदत्त।

(ब) जातिवाचक नाम (सामान्य वाचक/अविशेषक) जैसे—मनुष्य।

१. स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्द इति ।—प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार ४।११।

२. अनुयोगद्वारसूत्रम्—नामपद सूत्र १२१-१३७।

स्मरणीय है कि जो 'नाम' एक दृष्टि से जातिवाचक है वही दूसरी दृष्टि से व्यक्तिवाचक (विशेष) हो जाता है। 'भारतीय'—यह नाम भारतीयों की दृष्टि से सामान्य या जातिवाचक है जबकि मनुष्यों की दृष्टि से विशेष या व्यक्तिवाचक है। अनुयोगद्वारसूत्र में इस तथ्य को अनेक उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है और यह बताया गया है कि सामान्य और विशेष या जाति और व्यक्ति को अवधारणा सापेक्ष है।

नामों का एक द्विविध वर्गीकरण हमें विशेषावश्यक भाष्य में भी मिलता है, जहाँ पदों को वाचकपद एवं द्योतकपद के रूप में दो भागों में वर्गीकृत किया गया है। 'वृक्ष खड़ा है—यह वाचक पद का उदाहरण है, जबकि प्र० च० आदि द्योतक पद कहे गये हैं।

त्रिविधनाम—नामों का त्रिविध वर्गीकरण निम्न दो आधारों पर किया गया है—

(१) द्रव्य, गुण और पर्याय के आधार पर

(अ) द्रव्यवाचक नाम—जैसे : जीव, पुद्गल, आकाश आदि।

(ब) गुणवाचक नाम—जैसे : ठण्डा, गरम, काला, नीला, खट्टा, मीठा आदि। गुणवाचक नामों में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकृति आदि के आधार पर विविध भेद हैं।

(स) पर्यायवाचक नाम (अवस्थासूचक नाम)—पर्यायवाचक नाम वस्तु/सत्ता की अवस्था विशेष को सूचित करते हैं। जैसे : स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध, युवा आदि।

(२) लिङ्ग के आधार पर

(अ) पुलिङ्ग नाम—जैसे : राजा, गिरि, विष्णु।

(ब) स्त्रीलिङ्ग नाम—जैसे : माला, श्री, लक्ष्मी, वायु।

(स) नपुंसकलिङ्ग नाम—जैसे : वन, मधु।

चतुर्विधनाम—नामों का चतुर्विध वर्गीकरण सन्धिप्रक्रिया में वर्णों के आगम-लोप आदि के आधार पर शब्द-निर्माण की प्रक्रिया को समझाता है। इसके निम्न चार भेद हैं—

(अ) आगम—किन्हीं शब्दों की रचना सन्धिप्रक्रिया में किसी नये वर्ण के आगम के द्वारा होती है। जैसे : पद्माणि।

(ब) लोप—किन्हीं शब्दों की रचना सन्धिप्रक्रिया में किसी वर्ण के लोप के द्वारा होती है। जैसे : घटोऽत्र।

(स) प्रकृति—किन्हीं शब्दों की रचना सन्धिप्रक्रिया में बिना किसी परिवर्तन के यथावत् होती है। सन्धि का अवसर होने पर भी सन्धि नहीं होना ही 'प्रकृति' है। यथा : माले + इमे = मालेइमे।

(द) विकृति—किन्हीं पदों की रचना सन्धिप्रक्रिया में यथावत् न होकर विकृत रूप से होती है। जैसे : सा + अगता = सागता।

पञ्चविधनाम—पदों को उनके स्वरूप के आधार पर पाँच भागों में विभक्त किया गया है—

(१) नामपद/संज्ञापद (नामिक)—जो पद किसी वाक्य में स्वतन्त्र रूप में उद्देश्य या विधेय बनने के योग्य होते हैं वे नामिकपद हैं। वाक्य में प्रयुक्त नामिकपद विभक्ति युक्त होते हैं और किसी वस्तु के वाचक होते हैं। जैसे : अश्व, गज।

(२) नैपातिक—जो शब्द सातों विभक्तियों, तीनों लिङ्गों और तीनों वचनों में एक ही रूप रहें, वे नैपातिक कहलाते हैं। अव्यय भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। जैसे : खलु।

(३) आख्यातिक—क्रियापद (धातुएँ) आख्यातिक कहलाते हैं। जैसे : दौड़ना (धावति) आदि।

(४) औपसर्गिक—जिनके संयोग से शब्द के अर्थ में परिवर्तन होता है, वे उपसर्ग कहलाते हैं। जैसे : प्र, सम, नि, वि, अधि आदि। इनसे निर्मित पद औपसर्गिक होते हैं। यथा—विज्ञान, अधिवक्ता आदि।

(५) मिश्र—उपसर्ग, धातु, कृदन्त आदि से मिलकर जो शब्द बनता वह मिश्र कहलाता है। जैसे : संयत।

अनुयोगद्वारसूत्र के अतिरिक्त पदों का यहो पञ्चविध वर्गीकरण हमें विशेषावश्यक भाष्य में भी मिलता है।

षड्विधनाम—आत्मा और कर्म के संयोग के कारण आत्मा की जो छः विभिन्न अवस्थाएँ बनती हैं उन्हें अनुयोगद्वारसूत्र में षड्विधनाम कहा गया है। ये अवस्थाएँ निम्न हैं—

औदयिक—कर्म विशेष का उदय होने पर जो अवस्था प्राप्त होती है, वह औदयिक नाम है। जैसे : मनुष्य, देव।

औपशमिक—कर्म विशेष का उपशमन होने पर जो अवस्था प्राप्त होती है, वह औपशमिक है। यथा—उपशान्त मोह।

क्षायिक—कर्म विशेष के क्षीण हो जाने पर जो अवस्था प्राप्त होती है, वह क्षायिक है। जैसे : क्षीणमोह।

क्षयोपशमिक—कर्म विशेष का आंशिक क्षय और आंशिक उपशम होने पर जो अवस्था प्राप्त होती है, वह क्षयोपशमिक है।

पारिणामिक—पारिणामिक नाम परिवर्तन के सूचक हैं। ये दो प्रकार के हैं—सादि और अनादि। वस्तु विशेष में काल आदि के कारण जो परिवर्तन होते हैं, वे सादि पारिणामिक हैं। इस आधार पर हम कहते हैं—पुराना गुड़, जीर्ण वस्त्र आदि। पुद्गलास्तिकाय आदि द्रव्यों में जो सतत परिवर्तन की धारा चल रही है वह अनादि पारिणामिक दशा है।

सन्निपातिक—उपर्युक्त पाँचों अवस्थाओं के विभिन्न संयोगों से जो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, वे सन्निपातिक हैं।

सप्तविधनाम—अनुयोगद्वारसूत्र में नामों का जो सप्तविध वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है, उसमें षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद—इन सप्तस्वरों का उल्लेख है। संगीत के ये स्वर भावाभिव्यक्ति के माध्यम हैं और इस रूप में वे भाषा से भी संबंधित हैं। ग्रंथकार ने इन स्वरों के संदर्भ में इनके उच्चारण स्थान, फल, ग्राम आदि की भी विस्तृत चर्चा की है। किन्तु भाषा दर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं होने के कारण हम यहाँ इसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं।

अष्टविधनाम—अनुयोगद्वारसूत्र में अष्टविध नाम की चर्चा वस्तुतः आठ विभक्तियों के आधार पर की गयी है। संस्कृत एवं प्राकृत व्याकरण में आठों विभक्तियों की विस्तृत चर्चा है।

वस्तुतः किसी भी पद का वाक्य में उसका क्या स्थान है इसका निर्धारण विभक्ति करती है। अतः भाषा की दृष्टि से विभक्तियों की उपयोगिता निर्विवाद है।

नवविधनाम—अनुयोगद्वारसूत्र में नवविध नाम की चर्चा करते हुए मुख्यतः नव रसों की चर्चा की गयी है। साहित्य की दृष्टि से रस एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। अनुयोगद्वारसूत्र में वीर, शृंगार, अद्भुत, रौद्र, ब्रीडनक, बीभत्स, हास्य, करुण और प्रशान्त—इन नव रसों का वर्णन है। यद्यपि नव रसों का नामकरण की प्रक्रिया से क्या सम्बन्ध है यह कह पाना कठिन है।

भाषादर्शन की दृष्टि से हमें षड्विधनाम सप्तविधनाम और नवविधनाम महत्त्वपूर्ण नहीं लगते हैं। यद्यपि कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से षड्विधनाम, संगीतशास्त्र की दृष्टि से सप्तविधनाम और साहित्यशास्त्र की दृष्टि से नवविधनाम महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु इनका सीधा सम्बन्ध भाषादर्शन से नहीं है। अष्टविधनाम में आठ विभक्तियों का जो विवेचन उपलब्ध है वह निश्चय ही भाषादर्शन से सम्बन्धित है। अनुयोगद्वारसूत्र में वर्णित दशविधनाम निश्चय ही भाषादर्शन और नामकरण की प्रक्रिया से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रखते हैं। अतः यहाँ उनकी थोड़ी विस्तारपूर्वक चर्चा करना अपेक्षित है।

दशविधनाम—अनुयोगद्वारसूत्र^१ एवं धवला^२ में निम्न दस प्रकार के पदों (नामों) का उल्लेख मिलता है। क्रम को छोड़कर दोनों में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः यह वर्गीकरण पदों के नामकरण (Naming) की प्रक्रिया को समझने के लिए है जिससे उनके सम्यक् अर्थ को समझा जा सके।

१. गौण्यपद नाम—गौण्य गुणों के भाव को कहते हैं। वस्तु के या वाच्यविषय के गुणों के आधार पर जो उन्हें गुणनिष्पन्न नाम दिया जाता है उसे गौण्यपदनाम कहते हैं। जैसे—भास्वरता के गुण की अपेक्षा सूर्य को भास्कर कहना, किसी धनाढ्य व्यक्ति को लक्ष्मीपति कहना अथवा श्रम करने वाले को श्रमिक कहना।

२. नोगौण्यपद नाम—जिन पदों या नामों में गुण की अपेक्षा न हों अर्थात् जो नाम गुणनिष्पन्न न हों, ऐसे नामों (पदों) को नोगौण्यपद कहते हैं। जैसे—किसी कुरूप स्त्री का सुन्दरी नाम हो अथवा किसी निर्धन का लक्ष्मीपति नाम हो। नोगौण्यपद गुणविरुद्ध नाम है।

३. आदानपद नाम—विशेषणों से युक्त नाम आदानपद नाम कहे जाते हैं। जैसे—पूर्णकलश। आदानपद नाम में वस्तु को अपने अर्थबोध के लिए अन्यपद की अपेक्षा रहती है।

४. प्रतिपक्षपद नाम—जहाँ अन्य द्रव्य (वस्तु) या गुण के अभाव को ग्रहणकर कोई नामकरण दिया जाता है उसे प्रतिपक्षपद नाम कहते हैं। जैसे—वन्ध्या, यह नाम पुत्र के अभाव के कारण दिया जाता है अथवा असती, यह नाम सतीत्वगुण के अभाव के कारण होता है।

५. अनादिसिद्धान्तपद नाम—परम्परागत रूप से चले आये विशिष्ट अर्थ में रूढ़ पदों को अनादिसिद्धान्तपद नाम कहते हैं। जैसे—ब्रह्म, स्याद्वाद, धर्मास्तिकाय आदि। अनेक सन्दर्भों में ये अपने निरुक्तार्थ से भिन्न अर्थ भी रखते हैं।

१. अनुयोगद्वारसूत्र—नामपद।

२. (अ)जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ३ पृ० ४। (ब) धवला ९।४, १, ४५।१३५४।

६. प्राधान्यपद नाम—किसी एक पदार्थ की बहुलता होने पर उसकी प्रधानता के कारण जो नाम दिया जाता है वह प्राधान्यपद नाम है। जैसे—आम्रवन। आम्रवन में आम्र के अतिरिक्त अन्य वृक्ष भी हो सकते हैं, परन्तु आम्रों की प्रधानता के कारण उसे आम्रवन नाम दिया जाता है।

७. नामपद—जो भाषा-भेद से बोले जाते हैं, उन्हें नामपद कहते हैं। जैसे—आन्ध्र, द्रविड़ आदि। मेरी अपनी दृष्टि में नामपद वे हैं जिसका बिना किसी आधार के नामकरण किया गया हो।

८. प्रमाणपद—गणना अथवा माप की अपेक्षा से जो संज्ञाएँ प्रचलित हैं उन्हें प्रमाणपद कहते हैं। जैसे—हजार, करोड़ अथवा वर्तमान में मीटर, लीटर आदि।

९. अवयवपद—यह दो प्रकार के होते हैं—१. उपचित अवयवपद और २. अपचित अवयवपद।

(अ) उपचित अवयवपद—किसी कारण से किसी अवयव के बढ़ जाने से जो नाम दिये जाते हैं, उन्हें उपचित अवयवपद नाम दिया जाता है। जैसे—शिलीपद, लम्बकर्ण आदि।

(ब) अपचित अवयवपद—किसी अवयव के छिन्न हो जाने पर जो नाम दिये जाते हैं उन्हें अपचित अवयवपद कहा जाता है। जैसे—नकटा (छिन्ननासिक), काणा आदि।

१०. संयोगपद—किसी संयोग विशेष के आधार पर जो नाम दिये जाते हैं, वे संयोगपद नाम कहे जाते हैं। संयोगपद नाम चार प्रकार के हैं—१. द्रव्यसंयोगपद, २. क्षेत्रसंयोगपद, ३. कालसंयोगपद और ४. भावसंयोगपद।

(अ) द्रव्यसंयोगपद—अन्य द्रव्यों अर्थात् वस्तुओं के संयोग के कारण जो नाम दिये जाते हैं वे द्रव्यसंयोगपद कहे जाते हैं। जैसे—दण्डी, गभिणी आदि। दण्ड या गर्भ के संयोग के कारण ही इन्हें ये नाम दिये जाते हैं। घी का घड़ा भी इसी प्रकार का नाम है।

(ब) क्षेत्रसंयोगपद—किसी क्षेत्र विशेष के कारण जो नाम दिये जाते हैं, वे क्षेत्र संयोगपद कहलाते हैं। जैसे—माथुर, कान्यकुब्ज, दाक्षिणात्य आदि।

(स) कालसंयोगपद—काल-विशेष के कारण अथवा ऋतु-विशेष के कारण जो नाम दिये जाते हैं, वे कालसंयोगपद हैं। जैसे—वासन्ती, शारदीय आदि।

(द) भावसंयोगपद—विशिष्ट भावों की उपस्थिति के कारण जो नाम दिया जाता है, उसे भावसंयोगपद कहते हैं। जैसे—क्रोधी, मायावी, लोभी आदि।

अनुयोगद्वार सूत्र का नामकरण की प्रक्रिया का यह विवरण यद्यपि भाषाशास्त्र की दृष्टि से पूर्ण समीचीन विवरण तो नहीं कहा जा सकता है, फिर भी नामकरण की प्रक्रिया पर कुछ प्रकाश अवश्य डालता है।

अनेकार्थक शब्दों के वाच्यार्थ-निर्धारण की समस्या—

भाषा दर्शन का एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि अनेकार्थक शब्दों के वाच्यार्थ का निर्धारण किस प्रकार होता है? यह अनुभव सिद्ध है कि सभी भाषाओं में अनेकार्थक शब्द पाये जाते हैं। अतः प्रश्न यह है कि अनेकार्थक शब्दों के अनेक वाच्यार्थों में से कैसे एक अर्थ प्रमुख हो जाता है और दूसरा अर्थ गौण हो जाता है? जैन-आचार्यों ने अपने नय सिद्धान्त में इस समस्या को उठाया है। वे कहते हैं कि अनेकार्थक शब्दों में वक्ता के अभिप्राय एवं संदर्भ के आधार पर ही शब्द के विवक्षित वाच्यार्थ का निर्धारण होता है। यदि हम वक्ता के अभिप्राय के आधार पर

शब्द के वाच्यार्थ का निर्णय न करके उन्हें सदा एक ही अर्थ में ग्रहण करेंगे तो हमारे व्यवहार में बड़ी अव्यवस्था हो जायेगी। उदाहरण के लिए 'सैन्धव' शब्द घोड़ा और नमक दोनों का वाचक है। यदि कोई व्यक्ति भोजन के समय 'सैन्धव लाओ' शब्द का उच्चारण करता है और श्रोता वहाँ घोड़ा लाकर खड़ा कर देता है तो वह हँसी का पात्र बनता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति यात्रा की तैयारी करते समय 'सैन्धव लाओ' शब्द का उच्चारण करता है और श्रोता यदि नमक लाकर रख देता है तो भी वह उपहास का विषय बनता है। अतः अनेकार्थी शब्दों के वाच्यार्थ का निर्धारण वक्ता के अभिप्राय एवं परिस्थिति (सन्दर्भ) के आधार पर होता है। वक्ता का अभिप्राय भी वस्तुतः उस समग्र परिवेश पर ही निर्भर करता है जिसमें उस शब्द अथवा वाच्य का उच्चारण किया गया है। समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि शब्द का वाच्यार्थ निश्चय केवल शब्द ध्वनि के आधार पर नहीं, अपितु उस समग्र परिवेश के आधार पर निर्धारित होता है, जिसमें वह कहा गया है। प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने भी इस बात को स्वीकार किया है। वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि शब्द अनेकार्थक भी होते हैं और समानार्थक भी। परन्तु उनमें शब्द का कौन सा अर्थ वाच्य बनकर सामने आता है इसका निर्णय वक्ता की प्रयोगभावना के विनियोग पर आधारित होता है और वक्ता का यह विनियोग जिस अर्थ को सामने लाता है उसे सामने लाने में दो नियम काम करते हैं—(१) उपचार और (२) प्रतिचार। उपचार वह है जिसके कारण अन्य अर्थों की अपेक्षा वाच्यार्थ ही प्रमुखता ग्रहण करके सामने आ जाता है। उपचार वक्ता के अभिप्रेत अर्थ को सामने लाता है और प्रतिचार अवाञ्छित अर्थ को अपहित कर देता है।^१ वस्तुतः शब्द या कथन के वाच्यार्थ के निर्धारण करने में वक्ता के अभिप्राय पर ध्यान देना आवश्यक होता है। यहाँ अभिप्राय का तात्पर्य यह है कि उस शब्द अथवा कथन के विविध अर्थों में वक्ता को कौन सा अर्थ अभिप्रेत है। इस अभिप्रेत अर्थ की सूचना उस सन्दर्भ से मिलती है जिसमें शब्द या वाक्य कहा जाता है। शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण सन्दर्भ के आधार पर ही होता है। जैन दार्शनिकों ने इस सन्दर्भ को ही नय कहा है। कोई भी कथन निरपेक्षरूप से सामने नहीं आता है। जो कुछ भी बोला या कहा जाता है वह किसी अपेक्षा या दृष्टि के आधार पर या किसी सन्दर्भ में ही कहा जाता है। यदि हम उस अपेक्षा या दृष्टि की उपेक्षा करके कथनों या शब्दों के अर्थ का निश्चय करेंगे तो हम शब्द या कथन के सही वाच्यार्थ को नहीं समझ पायेंगे। शब्द या वाक्य का वाच्यार्थ समझने के लिए हमें उस अपेक्षा या दृष्टि अथवा सन्दर्भ को सामने रखना होगा जिसमें कोई शब्द या कथन कहा जाता है। भाषा निरपेक्ष नहीं है और इसलिए भाषा अभिव्यक्तियों को निरपेक्ष रूप से समझने का प्रयत्न सम्यक् नहीं कहा जा सकता।

न केवल अनेकार्थक शब्दों अपितु अन्य शब्दों और वाक्यों का अर्थ भी उस परिस्थिति के आधार पर ही निर्धारित होता है जिनमें उन्हें बोला जाता है। जब एक राजगौर दीवार चुनते समय 'ईंट' या 'पत्थर' शब्द का उच्चारण करता है तो उसमें वह अकेला शब्द अपना अर्थ-बोध वाक्य के रूप में देता है। उस समय उसका अर्थ होता है—'ईंट लाओ' या 'पत्थर लाओ'।

१. देखें (अ) भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, पृ० १८४-१८५।

(ब) वाक्यपदीय, ३.३.३९ से ४२।

किन्तु यही 'पत्थर' शब्द जब पुलिस और छात्रों की मुठभेड़ के समय उच्चरित किया जाता है तो उसका अर्थ होगा 'पत्थर चल गये' या 'पत्थर मारो'। अतः शब्दों या कथनों का वाच्यार्थ उस समय सन्दर्भ में ही निर्धारित होता है जिसमें वह बोला या लिखा जाता है। वक्ता के अभिप्राय का श्रोता और लेखक के अभिप्राय का पाठक सही अर्थ ग्रहण करें इसलिए जैन आचार्यों ने निक्षेपसिद्धान्त और नयसिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिन पर हम यथाप्रसंग चर्चा करेंगे। इन्हीं दोनों सिद्धान्तों के आधार पर अनेकार्थक शब्दों एवं वाक्यों के अर्थ का निर्धारण होता है।

शब्द का वाच्य सामान्य (जाति) या विशेष (व्यक्ति)—

शब्द का वाच्यार्थ के सम्बन्ध में एक विवाद सामान्य और विशेष को लेकर है। मूलभूत प्रश्न यह है कि शब्द से जाति का ग्रहण होता है या व्यक्ति का। मीमांसकों के अनुसार शब्द का विषय सामान्य अर्थात् जाति ही है।^१ शब्द सामान्य के सूचक एवं ग्राहक हैं। विशेष (व्यक्ति) शब्द का विषय नहीं हो सकते क्योंकि व्यक्ति अनेक होते हैं किन्तु उनका संकेतक शब्द एक होता है—जैसे गो, महिष, मनुष्य आदि। मनुष्य शब्द को ही लें। मनुष्य अनेक हैं, किन्तु मनुष्य शब्द एक है और उसके द्वारा सभी मनुष्यों का ग्रहण हो जाता है। अतः शब्द से जाति या सामान्य का ग्रहण होता है। प्रश्न यह भी हो सकता है कि वे शब्द जो स्वरूपतः व्यक्तिवाचक हैं उनका वाच्यार्थ सामान्यी कैसे हो सकता है? सामान्यतया यहाँ भी सामान्यवादी यही कहेगा कि व्यक्तिवाचक शब्द भी सामान्य के ही वाचक हैं क्योंकि वे जिसको वाच्य बनाते हैं वह विशेष नहीं होकर सामान्य ही होता है। जैसे—सागरमल शब्द का वाच्य वह व्यक्ति नहीं है जो क्षण-क्षण बदलता है, अपितु वह है जो इन बदलती हुई व्यष्टियों में भी अनुस्यूत है। मीमांसकों के इस मत के ठीक विपरीत बौद्ध सामान्य के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर देते हैं। उनके अनुसार शब्द का कार्य अन्यापोह या अन्य-व्यावृत्ति है। जब शब्द अन्य की व्यावृत्ति या निषेध कर देता है तो उसका वाच्य विशेष ही होगा। इन दोनों मतों का समन्वय करते हुए न्याय-दर्शन और जैन-दर्शन ने जाति-विशिष्ट-व्यक्ति अथवा सामान्य-विशिष्ट-विशेष को शब्द का वाच्यार्थ माना है।^२ वस्तुतः यदि हम शब्द को केवल जाति या सामान्य का संकेतक या ग्राहक मानेंगे तो फिर उससे व्यवहार की सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि जाति तो अमूर्त है। वास्तविकता यह है कि शब्दों से हम जाति के साथ-साथ व्यक्ति का भी ग्रहण करते हैं। इस सम्बन्ध में जैनों का मत यह है कि शब्द न तो एकान्तरूप से सामान्य अर्थात् जाति का संकेतक है और न वह एकान्तरूप से व्यक्ति या विशेष का संकेतक है अपितु सामान्यवान्-विशेष/जात्यान्वित-व्यक्ति का संकेतक है। वस्तुतः जैन दर्शन के अनुसार शब्द सामान्य का संकेतक या ग्राहक है या विशेष का—यह प्रश्न ही गलत है। यह प्रश्न तब ही सम्भव हो सकता है जब सामान्य और विशेष दोनों एक दूसरे से विविक्त अर्थात् स्वतन्त्र सत्ताएँ हों और एक दूसरे से स्वतन्त्र होकर हमारे अनुभव का विषय बनते हों। सामान्य और विशेष अथवा जाति और व्यक्ति चाहे विचार की दृष्टि से पृथक्-पृथक् हों, किन्तु आनुभविक जगत् में वे पृथक्-पृथक् नहीं पाये जाते हैं। व्यक्तियों से भिन्न न तो जाति या सामान्य की सत्ता है और न सामान्य से रहित

१. जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः।—वाक्यपदीय ३।१।३३

२. (अ) समयश्च सामान्य-विशेषात्मकेऽर्थेऽभिधीयते न जात्यादि मात्रे।—प्रमेयकमलमार्तण्ड अध्याय ३।

(ब) देखें—The Problem of Meaning in Indian Philosophy p. 220-223..

किसी व्यक्ति की सत्ता। मनुष्यत्व मनुष्यों से पृथक् नहीं देखा जा सकता और न कोई ऐसा मनुष्य ही होता है जो मनुष्यत्व से रहित हो। सत्ता या अस्तित्व सामान्य-विशेषात्मक है और यदि शब्द का वाच्यार्थ आनुभविक तथ्य है, तो हमें यह मानना होगा कि शब्द एकान्तरूप से न तो सामान्य का बोधक है और न विशेष का अपितु सामान्य-विशिष्ट-विशेष का। जैन आचार्यों ने मीमांसकों के इस सिद्धान्त का कि 'शब्द केवल सामान्य का संकेतक एवं ग्राहक है', खण्डन करते हुए कहा है कि संकेत के अनुसार ही शब्द वाचक होता है और संकेत सामान्य-विशिष्ट-विशेष में ही सम्भव है। केवल सामान्य अथवा जाति अर्थ क्रिया में उपयोगी नहीं है अपितु सामान्य विशिष्ट घट आदि वस्तुएँ ही कार्यकारी होती हैं। गोत्वनामक सामान्य से न तो दुग्ध की उपलब्धि होती है और न घटत्व से जल-धारण का कार्य सिद्ध होता है। शब्द जिसका संकेत करता है वह सामान्यवान् या जात्यान्वित विशेष ही है।

यद्यपि जैन दार्शनिक और नैयायिक दोनों ही शब्द का वाच्य सामान्य-विशिष्ट-विशेष को मानते हैं फिर भी जैन दार्शनिक नैयायिकों की इस बात को स्वीकार नहीं करते कि शब्द पहले जाति को ग्रहण कर फिर व्यक्ति को ग्रहण करता है। नैयायिकों को यह अवधारणा तभी सत्य हो सकती है जबकि जाति और व्यक्ति की विविक्त या भिन्न-भिन्न सत्ताएँ होतीं या उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध होता। जब सामान्य और विशेष एक ही वस्तु में अन्वित है तो शब्द पहले जाति का ग्रहण कर फिर व्यक्ति को ग्रहण करता है—यह मानना समुचित नहीं। क्योंकि अनुभव में ऐसा कोई क्रम नहीं देखा जाता। यदि हम जाति को विशेषण और व्यक्ति के विशेष्य मानें तो दोनों अभिन्न या अविविक्त ही सिद्ध होते हैं और शब्द इस अविविक्त वाच्यार्थ का बोध एक ही साथ कराता है, अलग-अलग नहीं। 'गाय को लाओ' इस शब्द प्रयोग को सुनकर श्रोता गोत्वान्वित गाय विशेष को ही खोजता है, वह गोत्व को नहीं खोजता। शब्द-संकेत से एक ही साथ विशेष्य और विशेषण का ग्रहण होता है। मीमांसकों का यह कहना भी युक्ति संगत नहीं है कि 'गो' शब्द के सुनने से काली, सफेद आदि विशेषणों से युक्त विशेष की प्रतीति नहीं होती है, अतः शब्द का वाच्यार्थ विशेष नहीं है। चाहे 'गो' शब्द सुनकर काली, सफेद आदि 'गाय' का अर्थबोध न हो, किन्तु गलकम्बल तथा कुकुद वाले प्राणी विशेष की प्रतीति तो होती ही है।

मीमांसकों का यह मानना भी उचित नहीं है कि विशेष (व्यक्ति) के साथ सामान्य का कार्य-कारण सम्बन्ध (प्रभाकर) अथवा स्वाभाविक (भाट्ट) सम्बन्ध है, अतः शब्द के वाच्य सामान्य (जाति) से लक्षणा के द्वारा विशेष (व्यक्ति) की प्रतीति हो जाती है। चाहे जाति और व्यक्ति में कार्य-कारण माना जाये या उनमें स्वाभाविक सम्बन्ध माना जाये शब्द संकेत काल में तो जाति और व्यक्ति में तादात्म्य ही प्रतीत होता है। अतः शब्द का वाच्यार्थ सामान्य-विशिष्ट-विशेष ही मानना चाहिए।^१

वस्तुतः शब्द सामान्य का ग्राहक है या विशेष का अथवा सामान्य-विशिष्ट-विशेष का ग्राहक है—यह विवाद विभिन्न दार्शनिकों की अपनी तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं के आधार पर आया है। अनुभव के क्षेत्र में तो हमें सदैव ही सामान्य-विशिष्ट-विशेष की ही अनुभूति होती है और इस-

१. (अ) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ५६८।

(ब) जैनन्याय, पृ० २४०।

लिए आनुभविक स्तर पर यही बात अधिक संगतिपूर्ण सिद्ध होती है कि शब्द का वाच्यार्थ एकान्तरूप से न तो सामान्य है और न विशेष, अपितु सामान्यवान् विशेष ही है।

शब्द का वाच्यार्थ जात्यान्वित व्यक्ति या सामान्यवान् विशेष है—इस बात का समर्थन पाश्चात्य तार्किक भाववादियों ने भी किया है। तार्किक भाववादियों के अनुसार वही भाषा सार्थक मानी जाती है जिसका प्रतिपाद्य कोई आनुभविक तथ्य हो। दूसरे शब्दों में वे उन्हीं शब्दों, अर्थों और प्राक्कथनों को अर्थवान् मानते हैं जिनके वाच्यार्थ सत्यापनीय हों। यदि इस दृष्टि से हम विचार करें तो हमें जैनों की और किसी सीमा तक नैयायिकों की यह अवधारणा समुचित लगती है कि शब्द के वाच्यार्थ अनुभव के वे विशेष तथ्य हैं जिनमें सामान्य या जाति अनुस्यूत है।

भाषा दर्शन के क्षेत्र में शब्द का वाच्यार्थ सामान्य है या विशेष—यह समस्या तब ही महत्वपूर्ण हो सकती थी जबकि सामान्य या विशेष अथवा व्यक्ति और जाति दो पृथक्-पृथक् तथ्य होते। वस्तुतः यह विवाद इसलिए खड़ा हो गया कि हमने विचार के स्तर पर पृथक्भूत (Distinguishable) और अनुभव के स्तर पर पृथक्भूत (Separable) के विभेद को भुला दिया है। कुछ ऐसी बातें अवश्य हैं जिन्हें हम विचार के क्षेत्र में विश्लेषित करके समझ सकते हैं किन्तु अनुभव के क्षेत्र में उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। सामान्य और विशेष अथवा व्यक्ति और जाति ऐसे ही तथ्य हैं जिन्हें हम वैचारिक स्तर पर एक-दूसरे से पृथक् कर सकते हैं किन्तु अनुभव के स्तर पर उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। जाति या सामान्य एक अमूर्त तथ्य है जिसका अस्तित्व कुछ समानताओं के आधार पर व्यक्तियों में स्वीकार किया जा सकता है किन्तु उसे हम व्यक्तियों से पृथक् कर नहीं देख सकते हैं। अतः शब्द का वाच्य सामान्यवान् विशेष हो सकता है क्योंकि उसी की आनुभविक सत्ता है।

इस चर्चा के सन्दर्भ में हमें एक बात और ध्यान रखना चाहिए, वह यह कि भाषा का सम्बन्ध तथ्यात्मक जगत् से है। अनुभवातीत और अमूर्त सत्ता को भाषा के द्वारा अर्थात् शब्दों के द्वारा वाच्य नहीं बनाया जा सकता है। अनुभव का अतिक्रमण करने वाले तथ्यों के सन्दर्भ में भाषा 'नेतिनेति' का उद्घोष कर मौन धारण कर लेती है। अतः शब्दों के वाच्य विषयों के सन्दर्भ में अथवा भाषा की सीमा की चर्चा करते हुए हमें इस बात को स्वीकार करना होगा कि उनका प्रतिपाद्य आनुभविक तथ्य ही हो सकते हैं, अनुभवातीत तथ्य नहीं और ये आनुभविक तथ्य ही जात्यान्वित विशेष या व्यक्ति हैं। इनसे परे शब्द और भाषा की कोई गति नहीं है। समकालीन तार्किक-विश्लेषणवादियों ने इसलिए तत्त्वमीमांसीय अनुभवातीत अमूर्त प्रत्ययों को निरर्थक (Meaningless) कहा है। क्योंकि वे असत्यापनीय हैं। भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि से वे 'अवाच्य' हैं। शब्दों का वाच्यार्थ तो आनुभविक तथ्य अर्थात् जात्यान्वित व्यक्ति है। क्योंकि व्यक्ति निरपेक्ष सामान्य (जाति) और सामान्य (जाति) निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता ही नहीं है, वे अनुभव के विषय नहीं हैं। अनुभव का विषय तो जात्यान्वित व्यक्ति है, अतः जैनों के अनुसार वही शब्द का वाच्यार्थ है।^१ जैनों के अनुसार सामान्य सादृश्य बोध है।

१. विस्तृत चर्चा के लिए देखें—

(अ) न्यायकुमुदचन्द, पृ० ५६८।

(ब) जैन न्याय (पं० कैलाश चन्द जी), पृ० २४९ से १५३।

वस्तुतः शब्द का वाच्यार्थ सामान्य है या विशेष—यह विवाद इसलिए भी निरर्थक है कि स्वयं शब्दों की अपनी प्रकृति है जिसके आधार पर वे जाति (सामान्य) या व्यक्ति (विशेष) के वाचक बनते हैं। कुछ शब्द जाति वाचक होते हैं, यथा—मनुष्य और कुछ शब्द व्यक्तिवाचक होते हैं, यथा—सागरमल। साथ ही शब्द जाति का संकेतक होगा या व्यक्ति का—यह बात केवल शब्द के स्वरूप पर ही निर्भर नहीं करती है, अपितु उस संदर्भ पर भी निर्भर करती है, जिसमें उसका प्रयोग किया गया है। अतः इस सम्बन्ध में जैन दार्शनिक किसी ऐकान्तिक दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते हैं।

शब्द और उसके वाच्यार्थ का सम्बन्ध^१

शब्द के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि शब्द का अपने वाच्यार्थ से और अपने वाच्य विषय से क्या सम्बन्ध है? यह सत्य है कि शब्द व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के संकेतक हैं। सामान्यतया शब्द (Word), उसका वाच्यार्थ (Meaning) और उसका वाच्य-विषय (Object) तीनों का अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। जैनों के अनुसार शब्द अपने वाच्यार्थ और वाच्य-विषय से भिन्न है। शब्द और अर्थ (वाच्य-विषय) में वाच्य-वाचक भाव है और वाच्य-वाचक सम्बन्ध होने का अर्थ यह है कि न तो वे एक दूसरे से पूर्णतया अभिन्न हैं और न पूर्णतया असम्बन्धित हैं। जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि दो तथ्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी वे एक दूसरे से सम्बन्धित हो सकते हैं। उनके अनुसार शब्द न तो वस्तुरूप है और न वस्तु शब्द रूप है। वे न तो यह मानते हैं कि वस्तु-जगत् नाद (शब्द) से उत्पन्न है और न यह कि वस्तु-जगत् और शब्द में तादात्म्य है। शब्द और अर्थ में न तदुत्पत्ति सम्बन्ध है और न तादात्म्य सम्बन्ध है। फिर भी दोनों में वाच्य-वाचक सम्बन्ध तो उन्हें भी मान्य है, यदि उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता तो शब्द अपने वाच्यार्थ को कभी भी स्पष्ट नहीं कर सकते। शब्द और उनके वाच्यार्थ के बीच सम्बन्ध होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि शब्द अपने वाच्यार्थ का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द और उसके द्वारा संकेतित अर्थ या विषय में एक सम्बन्ध तो है लेकिन सम्बन्ध ऐसा नहीं कि शब्द अपने अर्थ का स्थान ले ले। शब्द और उसके वाच्यार्थ में पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या को लेकर यह प्रश्न उठाया गया है कि शब्द और उसके वाच्यार्थ में किस प्रकार का सम्बन्ध है? शब्द और उसके वाच्यार्थ के बीच तीन प्रकार के सम्बन्ध माने गये हैं:—१ तद्रूपता या तादात्म्य सम्बन्ध २. तदुत्पत्ति सम्बन्ध ३. वाच्य-वाचक सम्बन्ध।

तद्रूपता सम्बन्ध को तादात्म्य सम्बन्ध भी कहा गया है। वैयाकरणों की अवधारणा के अनुसार यह माना जाता है कि शब्द और उसके वाच्यार्थ में तादात्म्य या एकरूपता है किन्तु जैन विचारकों का कहना है कि शब्द और उसके वाच्यार्थ में तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है। यदि शब्द और उसके वाच्यार्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है तो फिर हमें शब्द के उच्चारण से उसके वाच्य

१. (अ) न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५४३।

(ब) जैन न्याय पृ० २३७ से २४२।

(स) The Philosophy of Word and Meaning, P. 137-171.

(द) The Problem of Meaning in Indian Philosophy, P. 200-223.

विषय की वास्तविक अनुभूति होनी चाहिए। न्यायकुमुदचन्द्र में इस प्रश्न को उठाकर स्पष्ट रूप से बताया गया है कि मोदक शब्द के उच्चारण से मुख में मीठे स्वाद की अनुभूति नहीं होती। अतः मोदक शब्द और उसके वाच्यार्थ मोदक नामक वस्तु में तादात्म्य नहीं है।

इसी प्रकार से शब्द और उसके वाच्यार्थ में तदुत्पत्ति सम्बन्ध भी नहीं है। न तो शब्द से अपने वाच्य-विषय की उत्पत्ति होती है और न वाच्य-विषय से शब्द की ही। शब्द और उसके वाच्य-विषय दोनों एक दूसरे से विविक्त अस्तित्व रखते हैं। अतः शब्द और उसके वाच्य-विषय में तदुत्पत्ति सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द और उसके वाच्यार्थ में यद्यपि तद्रूपता और तदुत्पत्ति का सम्बन्ध नहीं है फिर भी उन्होंने दोनों में वाच्यवाचक सम्बन्ध स्वीकार किया है। जबकि बौद्धों के अनुसार शब्द का उसके वाच्य-विषय से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। उनका कहना है कि शब्द अर्थ (वाच्य-विषय) का स्पर्श नहीं करता है। बौद्ध दार्शनिकों की इस मान्यता पर जैनों की आपत्ति यह है कि यदि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है तो फिर अर्थ (वस्तु) को देखने पर शब्द का स्मरण और शब्द को सुनने पर अर्थ (वस्तु) का स्मरण किस प्रकार हो जाता है। शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध न मानने पर हमें यह भी मानना होगा कि शब्द को सुनकर अर्थ का स्मरण नहीं होगा और अर्थ (वाच्य-वस्तु) को देखकर शब्द का स्मरण नहीं होगा। किन्तु व्यावहारिक अनुभव इससे भिन्न बात ही कहता है, हमें अर्थ (वस्तु) को देखकर उसके वाचक-शब्द का स्मरण हो जाता है और वाचक-शब्द को सुनने पर उससे वस्तु का स्मरण हो जाता है। बौद्धों ने इस आनुभविक कठिनाई को सुलझाने के लिए यह माना कि शब्द का सामान्य के साथ तदुत्पत्ति लक्षण सम्बन्ध है और सामान्य का विशेष के साथ एकत्व अध्यवसाय हो जाता है। अतः शब्द का विशेष के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी शब्द को सुनकर वस्तु विशेष का बोध और वस्तु विशेष को देखकर शब्द का बोध हो जाता है। किन्तु बौद्धों की दार्शनिक मान्यता के अनुसार शब्द का सम्बन्ध न तो प्रत्यक्षीकरण के साथ हो सकता है और न स्वलक्षण (वस्तु) के साथ, क्योंकि उनके अनुसार सामान्य भी मात्र नाम है उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। पुनः वे प्रत्यक्ष को निर्विकल्प-बोध मानते हैं और निर्विकल्प बोध शब्द-संसर्ग से रहित होता है। अतः उनके दर्शन में शब्द का सामान्य और वस्तु-स्वलक्षण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। पुनः यदि हम शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं स्वीकार करेंगे और बौद्धों के समान यह मानेंगे कि शब्द अपने वाच्यार्थ का स्पर्श ही नहीं करता है तो हमें भाषा की अर्थ-संकेतक शक्ति को भी अस्वीकार करना होगा और इस स्थिति में भाषा निरर्थक हो जायेगी। अतः शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के प्रश्न को लेकर हमें इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि शब्द और उसके अर्थ में न तो तादात्म्य सम्बन्ध है और न वे एक दूसरे से पूर्णतया असम्बन्धित हैं, अपितु उनमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। शब्द वाचक है और वस्तु वाच्य है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की अनित्यता—

मीमांसक न केवल शब्द को नित्य मानते हैं अपितु वे शब्द और उसके वाच्यार्थ के सम्बन्ध को भी नित्य मानते हैं। शब्द और उनके वाच्यार्थ के सम्बन्ध की नित्यता की अवधारणा एक नई समस्या को उत्पन्न करती है। यदि शब्द और उनके वाच्यार्थ के बीच का सम्बन्ध नित्य है तो शब्दों में अर्थ-परिवर्तन नहीं होना चाहिए। लेकिन भाषा-विज्ञान का

अध्ययन इस बात को सुस्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि शब्दों के वाच्यार्थों में परिवर्तन होता रहता है। प्राकृत साहित्य में 'ईसर' (ईश्वर) शब्द सम्पन्न व्यक्ति का सूचक है। वही ईश्वर शब्द कालान्तर में जगत् के नियन्ता एवं सृष्टा तत्त्व के रूप में प्रयुक्त होने लगा। 'ब्रह्म' शब्द जो मूल में 'यज्ञ' (Sacrifice) या बलिदान का सूचक था, वही कालान्तर में परमतत्त्व का वाचक बन गया। 'बुद्ध' शब्द जो 'प्रज्ञावान्' व्यक्ति का वाचक था वही कालान्तर में 'बुद्धु' होकर गंवार या मूर्ख का वाचक हो गया। नग्न और लुचित शब्द जो किसी समय जैन मुनियों के लिए आदर के साथ प्रयुक्त होते थे, उनके ही तद्भव रूप 'नंगा' और 'लुच्चा' होकर बदमाशों के पर्यायवाची हो गये। यह तो हमने कुछ ऐसे अर्थ-परिवर्तनों के उदाहरण दिये जिनका अर्थ एकदम ही भिन्न हो गया है। इसके अतिरिक्त भी अर्थ-परिवर्तन होते रहते हैं। अर्थ-परिवर्तन की अनेक दिशाएँ हैं—अर्थ-विस्तार (Extention of meaning) जैसे—स्याही, पहले काले रंग को स्याही ही स्याही थी अब सभी रंगों की। अर्थ-संकोच जैसे—वास, पहले वह सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों का वाचक था, अब केवल दुर्गन्ध का। अर्थ-आदेश (Transfer of meaning) जैसे—असुर, जो प्रारम्भ में देवताओं का वाचक था बाद में राक्षसों का वाचक हो गया। इस प्रकार शब्दों के अर्थापकर्ष और अर्थोत्कर्ष भी होते रहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शब्दों के वाच्यार्थ काल की परिवर्तनशील धारा में अपना अर्थ खोते और पाते रहते हैं। एक ही मूल शब्द से निर्मित 'गाड' और 'गुरु' शब्द दो देशों में दो भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से इस अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया का निष्कर्ष यही निकलता है कि शब्द और उनके वाच्यार्थों में कोई नियत सम्बन्ध नहीं है। शब्द का वाच्यार्थ केवल मात्र उसके धात्वर्थ से निश्चित नहीं होता है; अपितु प्रयोग के आधार पर उसका वाच्यार्थ बदलता भी रहता है। पाश्चात्य भाषा-दार्शनिक लुडविग विट्गैन्स्टन ने शब्द के वाच्यार्थ के निश्चय के सम्बन्ध में प्रयोग सिद्धान्त (Use theory) का प्रतिपादन किया। वह बताता है कि शब्द का वाच्यार्थ उसके प्रयोग से ही निश्चित होता है। कभी-कभी तो एक ही प्रकार की शब्दावली या वाक्य केवल अपने कहने के ढंग के आधार पर बिल्कुल भिन्न अर्थों के वाचक हो जाते हैं। 'आप बहुत ही भले आदमी हैं' इसी वाक्य को यदि वक्ता थोड़ा जोर देकर कह देता है तो उसका अर्थ एकदम भिन्न हो जाता है। जैन दार्शनिकों ने इसीलिए अपने भाषा दर्शन में दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। प्रथम तो वे अर्थान्तरण (Transfer of meaning) को स्वीकार करने के लिए इस बात को स्वीकार करते हैं कि शब्द और उसके वाच्यार्थ का सम्बन्ध एकान्तरूप से नित्य नहीं। दूसरे वे इस तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि शब्द के अर्थ का निर्धारण उसके प्रयोग के आधार पर ही होता है। इस आधार से उनके अनुसार शब्द और उसके वाच्यार्थ का सम्बन्ध नित्य या अपरिवर्तनशील न होकर अनित्य या परिवर्तनशील है।

स्फोटवाद और उसकी समालोचना^१

स्फोटवाद पूर्वपक्ष—

भाषा-दर्शन के क्षेत्र में स्फोटवाद वैयाकरणिकों की एक प्रमुख अवधारणा है। व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे अर्थ-प्रतीति हो उसे स्फोट कहते हैं (स्फुटति अर्थोयस्मात् स स्फोटः)। वस्तुतः पद या वाक्य को सुनकर पद या वाक्य के वाच्यार्थ का जो एक समन्वित समग्र चित्र हमारे सामने प्रस्तुत होता है वही स्फोट है। स्फोट पद या वाक्य के वाच्यार्थ को प्रकट करनेवाला तत्त्व है। वैयाकरणिकों के अनुसार पद या वाक्य के वाच्यार्थ का बोध वर्ण-ध्वनियों से नहीं होता अपितु वर्णों की उन ध्वनियों के पूर्ण होने पर स्वतः ही प्रकट होता है। 'गो' शब्द का वाच्यार्थ गकार, ओकार और विसर्जनीय के योग से बनी हुई वह ध्वनि नहीं है, जो श्रोतृ से सुनाई देती है, अपितु इन ध्वनियों के श्रवण के साथ जन्मा एक मानसबोध है। इसे हम बुद्ध्यर्थ भी कह सकते हैं। पतंजलि ने इस बात को एक उदाहरण से भी स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि पद या वाक्य के अन्तिम वर्ण का उच्चारण होते ही वस्तु का जो अखण्ड चित्र सामने आ जाता है वही स्फोट है। उनके अनुसार ध्वनि अनित्य है, वह उत्पन्न होकर नहीं रहती है, अतः वह अर्थबोध कराने में असमर्थ है, क्योंकि वह वाच्यार्थ के संकेतकाल में नष्ट हो जाती है। वस्तुतः ध्वनि को सुनकर जो अर्थबोध होता है वही स्फोट है। दूसरे शब्दों में जिससे अर्थ का प्रकटन होता है वही स्फोट है और यह स्फोट शब्द-ध्वनि से भिन्न है।

शब्द के दो पक्ष हैं—(१) ध्वनि और (२) स्फोट। ध्वनि क्रमशः होती है, प्रत्येक वर्ण की ध्वनि से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। उस संस्कार के सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से एक मानसिक पद की प्रतीति उत्पन्न होती है, इसी का नाम पद-स्फोट है। इसी प्रकार वाक्य के सन्दर्भ में भी अन्तिम पद के श्रवण से एक मानसिक वाक्य की प्रतीति होती है, यही वाक्यस्फोट है। स्फोट वाच्यार्थ का आन्तरिक या बौद्धिक पक्ष है। न्यायकुमुदचन्द्र में आचार्य प्रभाचन्द्र भी वैयाकरणिकों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वर्ण, पद और वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं क्योंकि वे ध्वनिरूप हैं किन्तु स्फोट ही अर्थ का प्रतिपादक है। अर्थ की प्रतीति में हेतु वर्ण ध्वनि नहीं, अपितु स्फोट नामक तत्त्व ही है। ध्वनि तो अनित्य है जबकि स्फोट नित्य है। स्फोट-को यदि अनित्य माना जायेगा तो उससे कालान्तर और देशान्तर में गो शब्द को सुनकर उसके वाच्यार्थ की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि संकेतरहित शब्द से अर्थ की प्रतीति होना असंभव है।

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें—

(अ) न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र)—सं० महेन्द्रकुमार, पृ० ७४५-७५६।

(ब) प्रमेयकमलमार्तण्ड—सं० महेन्द्रकुमार, पृ० ४५१-४५७।

(स) जैन न्याय, पं० कैलाशचन्द्रजी, पृ० २६७-२७३।

(द) भाषातत्त्व और वाक्यपदीय, पृ० १४९।

(ई) The Problem of Meaning in Indian Philosophy (R. C. Pandeya),
Chapter x.

अतः जो एक नित्य अखण्ड स्फोट अर्थ की प्रतिपत्ति में हेतु है, वर्णध्वनि उसको व्यक्त करके नष्ट हो जाती है।

स्फोटवाद का खण्डन

(१) स्फोटवाद के खण्डन में जैन आचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि यदि पूर्व वर्णों के संस्कारों से सहकृत अन्तिम वर्ण पद के वाच्यार्थ का ज्ञान कराता है तो फिर स्फोट की कल्पना व्यर्थ है क्योंकि स्फोट के अभाव में भी अर्थ की प्रतिपत्ति हो सकती है। इसके लिए स्फोट की कल्पना आवश्यक नहीं लगती। जब दृष्ट कारण से ही अर्थात् पूर्व वर्णों के संस्कार की स्मृति तथा अन्तिम वर्ण के श्रवण से कार्य अर्थात् अर्थबोध हो सकता है तो फिर अदृष्ट कारणान्तर के रूप में स्फोट की कल्पना करना बुद्धियुक्त नहीं है।

(२) पुनः यदि समष्टि या व्यष्टि रूप में वर्ण अर्थ का ज्ञान कराने में असमर्थ है तो फिर वे स्फोट को भी अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं माने जा सकते। पुनः यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि वर्णों के द्वारा उत्पन्न होनेवाला यह संस्कार स्वयं स्फोट है या स्फोट का एक धर्म है। यदि वर्णों के संस्कारों का ही नाम स्फोट है तो फिर स्फोट को वर्णों से उत्पन्न हुआ मानना होगा और ऐसी स्थिति में वह नित्य नहीं होगा। यदि यह संस्कार स्वयं स्फोट रूप न होकर स्फोट का ही धर्म है तो फिर प्रश्न यह उठता है कि वह स्फोट से भिन्न है अथवा अभिन्न। यदि हम संस्कारों को स्फोट का धर्म मानकर स्फोट से अभिन्न मानते हैं तो वर्णों के द्वारा उस धर्म की उत्पत्ति को स्फोट की ही उत्पत्ति माननी होगी और ऐसी स्थिति में स्फोट अनित्य हो जायेगा। यदि संस्कारों से उत्पन्न वह धर्म स्फोट से भिन्न है तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध नहीं बन सकेगा और ऐसी स्थिति में वर्ण ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति मानना संभव नहीं होगा। पुनः अभिन्न होने की दशा में यदि वर्ण ध्वनि अर्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकती तो फिर स्फोट भी अर्थ का ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता है।

पुनः स्फोट का सद्भाव भी किसी आधार पर सिद्ध नहीं होता है। चेतन सत्ता के सिवाय अन्य किसी तत्त्व में वाच्यार्थ के प्रकाशन की सामर्थ्य नहीं है। यदि चिदात्मा को ही स्फोट कहें तो उसमें जैनों को भी कोई आपत्ति नहीं क्योंकि जिसमें अर्थ स्फुट अर्थात् प्रकटित होता है उसे स्फोट कहते हैं। पुनः चिदात्मा के सिवाय स्फोट नाम के किसी स्वतन्त्र तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है; अतः शब्द में ही वाच्यार्थ को स्पष्ट करने की सामर्थ्य मान लेना चाहिए। वाच्यार्थ के स्पष्टीकरण के लिए अन्य किसी स्फोट नामक स्वतन्त्र तत्त्व को मानना आवश्यक नहीं है।

न केवल जैन अपितु मीमांसक और नैयायिक भी स्फोटवाद के सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। कुमारिल ने स्फोटवाद का खण्डन करके वर्णवाद की स्थापना की है। शब्द वर्णों की संहति है और वे ही अर्थाकार को प्रकट करते हैं। शब्दध्वनि में पूर्व-पूर्व वर्णों की ध्वनि को निरर्थक नहीं माना जा सकता है। वस्तुतः वर्णों के संस्कार ही समष्टि रूप से शब्द के वाच्यार्थ का ज्ञान कराते हैं। अतः स्वतन्त्र रूप से शब्दाकार अर्थात् स्फोट को मानना आवश्यक नहीं है। जैनों की भी यह मान्यता है कि सापेक्ष वर्णों की संहति से पद और सापेक्ष पदों की संहति से वाक्य बनता है जो स्वतः ही अपने वाच्यार्थ को स्पष्ट कर देता है। अतः स्फोट वर्ण या पद संस्कारों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है।

अपोहवाद और उसका खण्डन^१

बौद्धों का पूर्वपक्ष—

शब्द का वाच्यार्थ क्या है—यह प्रश्न भारतीय दार्शनिकों के लिए विवादास्पद रहा है। बौद्ध दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में अपोहवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अपोह का तात्पर्य अतद्-व्यावृत्ति या अन्य-व्यावृत्ति है। शब्द के वाच्यार्थ को अन्य शब्दों के वाच्यार्थ से पृथक् करना अर्थात् अन्यापोह ही अपोह है। अपने वाच्यार्थ का अन्य वाच्यार्थों से पृथकीकरण ही शब्द की अपोहात्मकता है, उदाहरण के लिए 'गाय' शब्द यह बताता है कि उसका वाच्यार्थ महिष, अश्व, पुरुष आदि नहीं हैं। इस प्रकार शब्द का कार्य अपने अर्थ से भिन्न अन्य-अर्थों का निषेध करना है।

बौद्धों के अनुसार शब्द का वाच्यार्थ न तो व्यक्ति है और न जाति; क्योंकि उनके अनुसार ऐसी कोई यथार्थ (Real) वस्तु ही नहीं है, जिसमें शब्द का संकेत ग्रहण हो सके। स्वलक्षण वस्तु मात्र क्षणजीवी हैं और द्रव्य, नाम, जाति आदि केवल भाषागत व्यवहार हैं, यथार्थ वस्तुएँ नहीं हैं। शब्द और शब्द का वाच्यार्थ केवल विकल्प या कल्पना है। उनकी मान्यता है कि शब्द से विकल्प और विकल्प से शब्द जन्म लेते हैं। उनके अनुसार व्यावहारिक जगत् को यथार्थ मानने का मुख्य आधार भाषा ही है; क्योंकि भाषायी व्यवहार में शब्द को बाह्यवस्तु जगत् का संकेतक माना जाता है। शब्द विकल्प के सहचारी होने के कारण व्यवहार में उपयोगी होते हैं किन्तु उनका अर्थ वास्तविक न होकर काल्पनिक ही होता है। यदि वस्तु क्षणिक और स्वलक्षण अर्थात् अद्वितीय स्वभाव से युक्त है तो शब्द उनका संकेतक नहीं हो सकता; क्योंकि संकेत ग्रहण करने के काल में वह वस्तु ही नहीं रहेगी। अतः शब्द का वाच्यार्थ क्षणजीवी विशेष नहीं हो सकता। यद्यपि शब्द का वाच्यार्थ सामान्य हो सकता है किन्तु सामान्य की कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है। शब्द से प्रतिपाद्य अर्थ न तो विशेषात्मक हो सकता है और न सामान्यात्मक। क्षणजीवी विशेष में संकेत ग्रहण संभव नहीं है और सामान्य अभिलाष्य होकर भी वास्तविक नहीं होता। सामान्य को वास्तविक मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

प्रथमतः तो वह खर-विषाण (खरगोश के सींग) के समान असत् है और असत् होने से उसमें अर्थक्रियाकारी शक्ति भी नहीं है। बौद्धों के अनुसार अनेक गायों में अनुस्यूत एक नित्य और निरंश गोत्व अयथार्थ है; क्योंकि विभिन्न देशों (स्थानों) और विभिन्न कालों में स्थित व्यक्तियों अर्थात् गायों में एक साथ एक ही गोत्व का पाया जाना अनुभव से विरुद्ध है। जिस प्रकार छात्रसंघ का छात्रों से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है, वह एक प्रकार की कल्पना है और सम्बन्धित व्यक्तियों की बुद्धि का विकल्प है उसी तरह गोत्व, मनुष्यत्व आदि भी बुद्धि विकल्प या कल्पना प्रसूत हैं, बाह्य सत् वस्तुएँ नहीं हैं। बौद्धों के अनुसार यह विकल्पित सामान्य ही शब्द का वाच्य है और यह अन्यापोहात्मक या अतद्-व्यावृत्ति रूप है। अतः शब्द अर्थ (बाह्य वस्तु) का

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखें—(अ) अपोह सिद्धि (रत्नकीर्ति)—अनुवाद गोविन्द चन्द्र पाण्डेय।

(ब) प्रमेयकमलमार्तण्ड—(महेन्द्र कुमार), पृ० ४३१-४५१।

(स) न्यायकुमुदचन्द्र—(महेन्द्र कुमार), भाग २ पृ० ५६१-५६६।

(द) जैनदर्शन—महेन्द्र कुमार, पृ० २७४-२८१।

(इ) जैन न्याय—प० कैलाश चन्द्र जी, पृ० २४३-२४९।

वाचक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियग्राह्य अर्थ (बाह्यवस्तु) भिन्न है और शब्द गोचर अर्थ (तात्पर्य = meaning) भिन्न है। क्योंकि अन्धा व्यक्ति बाह्य अर्थ (वस्तु) को देख नहीं पाता है किन्तु वह शब्द से उसके अर्थ (तात्पर्य = meaning) को जान लेता है। पुनः अग्नि का स्पर्श होने से जिस तरह के दाह, का अनुभव होता है वह दाह, और दाह शब्द को सुनकर जिस तरह का अर्थबोध होता है वह दाह, अलग-अलग है। अतः शब्द का वाच्य इन्द्रियग्राह्य अर्थ (बाह्यवस्तु) नहीं है। पुनः यह शब्द इस अर्थ या वस्तु विशेष का वाचक है—इस प्रकार का कथन भी क्षण-जीवी स्वलक्षण युक्त विशेष में संभव नहीं है, क्योंकि संकेत ग्रहण काल तक तो वह नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार 'गो' शब्द का 'अश्व' अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिए 'गो' शब्द 'अश्व' अर्थ (वस्तु) का ज्ञान कराने में असमर्थ है। उसी प्रकार स्वलक्षण युक्त बाह्य अर्थ (वस्तु) के साथ भी शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः क्षणजीवी स्वलक्षण युक्त विशेष अर्थ शब्द का विषय नहीं हो सकता। अतः बौद्धों के अनुसार शब्द न सामान्य के वाचक हैं और न विशेष के; वे केवल अतद्-व्यावृत्ति के द्वारा विकल्पित विषय को ही सूचित करते हैं; बाह्य वस्तु को नहीं; यही उनका अपोहवाद है।

अपोहवाद की समालोचना

प्रमेयकमलमार्तण्ड में जैनों ने बौद्धों के इस अपोह सिद्धान्त का खण्डन विविध आधारों पर किया है :—

(१) बौद्धों के अपोहवाद के सन्दर्भ में जैनों का प्रथम आक्षेप यह है कि शब्द का विषय केवल विकल्पित सामान्य नहीं अपितु यथार्थ सामान्य है। यह सत्य है कि व्यक्तियों से पृथक् किसी सामान्य को सत्ता नहीं है, सामान्य व्यक्तिनिष्ठ है किन्तु फिर भी वह यथार्थ है, काल्पनिक नहीं। जैनों के अनुसार वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। प्रत्येक वस्तु के कुछ धर्म अन्य वस्तुओं के सदृश होते हैं और कुछ विदृश। इन सदृश धर्मों को ही जैनों ने सामान्य माना है। वे यह मानते हैं कि सामान्य अनेकानुगत न होकर प्रत्येक व्यक्तिनिष्ठ है। दूसरे शब्दों में सामान्य नाम का कोई एक तत्त्व नहीं है जो कि सभी व्यक्तियों में अनुस्यूत है, अपितु व्यक्तियों के अलग-अलग सदृश गुण धर्म ही सामान्य हैं जो कि प्रत्येक व्यक्ति में उपस्थित रहकर उसे एक वर्ग या जाति को सदस्य बनाते हैं। सादृश्यता व्यक्ति का धर्म है और व्यक्ति के धर्म के रूप में वह यथार्थ है। जिस तरह प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का विषय जात्यन्वित व्यक्ति या सामान्यविशेषात्मक वस्तु होती है उसी तरह शब्द का विषय भी सामान्य विशेषात्मक यथार्थ वस्तु ही है, विकल्पित वस्तु नहीं। मीमांसकों के अनुसार यदि शब्द से केवल सामान्य में और बौद्धों के अनुसार विकल्पित सामान्य में ही संकेत ग्रहण माना जाये तो शब्द को सुनकर विशेष व्यक्तियों में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। 'गाय' शब्द सुनकर हम 'गाय' विशेष को ही खोजते हैं किसी सामान्य अर्थात् गोत्व को नहीं खोजते हैं। अतः शब्द जात्यन्वित यथार्थ वस्तु का संकेतक है, विकल्पित सामान्य का नहीं।

(२) यदि शब्द का वाच्यार्थ विकल्पित वस्तु है तो ऐसी स्थिति में कथन की सत्यता और असत्यता का निर्धारण संभव ही न होगा क्योंकि कथन की सत्यता और असत्यता का आधार उसके वाच्यार्थ की यथार्थ आनुभविक जगत् में प्राप्ति और अप्राप्ति ही है। जिस कथन के अनुरूप बाह्य जगत् में वस्तु उपलब्ध हो वह सत्य माना जाता है और जिस कथन के अनुरूप बाह्यार्थ प्राप्त न हो वह मिथ्या माना जाता है। बौद्धों के अनुसार ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार उसकी

अविसंवादिता है और इस अविसंवादिता के निर्णय का आधार बाह्यार्थ को छोड़कर अन्य कोई दूसरा नहीं हो सकता, क्योंकि जिस कथन के अनुरूप बाह्यार्थ (वस्तु) प्राप्त नहीं होते हैं उन्हें ही हम विसंवादी या मिथ्या कहते हैं। अतः शब्द का वाच्यार्थ यथार्थ वस्तु हो हो सकती है, विकल्पित वस्तु नहीं।

(३) बौद्धों के इस अपोहवाद के खण्डन में जैनों का एक तर्क यह भी है कि यदि आप सविकल्प बुद्धि में जो अर्थाकार प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है उसे ही अन्यापोह मानते हैं तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह प्रतिबिम्ब किसका है—स्वलक्षण का है या सामान्य का है? वह स्वलक्षण का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, क्योंकि स्वलक्षण तो व्यावृत्ताकार अर्थात् निषेध रूप है और प्रतिबिम्ब अनुगत, एकरूप या विधिरूप है। पुनः यदि यह स्वलक्षण का प्रतिबिम्ब है तो इसका स्वलक्षण के साथ तादात्म्य भी होगा किन्तु आप स्वलक्षण के साथ शब्द का तादात्म्य नहीं मानते हैं। यदि यह प्रतिबिम्ब सामान्य का है तो सामान्य की भी तो आपके मतानुसार सत्ता नहीं है और जिसकी सत्ता ही नहीं है उसका प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है। यदि बौद्ध दार्शनिक इसके प्रत्युत्तर में यह मानें कि अनर्थ में अर्थ का अध्यवसाय करने से बाह्य में प्रवृत्ति होती है तो उनकी यह मान्यता समुचित नहीं है। यदि इसके विपरीत बाह्यार्थ को ग्रहण करने को ही अर्थाध्यवसाय कहते हैं तो इससे जैन मत की ही पुष्टि होती है।

(४) यदि शब्द का कार्य अन्य या अतद् की व्यावृत्ति ही है तो वह केवल निषेध रूप होगा जबकि प्रत्येक वस्तु में अस्तित्वमूलक और नास्तित्वमूलक दोनों प्रकार के धर्म पाये जाते हैं। जैनों के अनुसार स्वचतुष्टय के विधान और परचतुष्टय के निषेध से ही वस्तु के स्वरूप का निश्चय होता है। यदि शब्द का वाच्य वस्तु है तो हमें शब्द के वाच्यार्थ के निर्धारण की प्रक्रिया को विधिमुख और निषेधमुख दोनों ही मानना होगा, क्योंकि प्रत्येक विधान निषेध की अपेक्षा करता है और प्रत्येक निषेध विधान की अपेक्षा करता है। निषेध बिना विधान के, विधान बिना निषेध के पूर्ण नहीं है। अतः बौद्धों को अपोह में विधिमूलक पक्ष को स्वीकार करना होगा अर्थात् यह मानना होगा कि शब्द का कार्य न केवल अतद् या अन्य की व्यावृत्ति है अपितु वस्तु के तद्रूप का प्रस्तुतीकरण भी है अर्थात् शब्द वस्तु के स्व-स्वरूप का प्रतिपादक है।

(५) अपोह वस्तुतः निषेध मूलक नहीं हो सकता है। व्यवहार के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि 'गाय' शब्द को सुनकर हम सीधे 'गाय' नामक वस्तु का बोध करते हैं। ऐसा नहीं होता कि हम यह महिष नहीं है, अश्व नहीं है आदि का निषेध करते हुए 'गाय' शब्द के वाच्यार्थ तक पहुँचते हैं। यद्यपि 'गाय' में अगो निवृत्ति पायी जाती है, किन्तु इसका अर्थ यह भी है कि सब गायों में एक समान धर्म हैं और इस सादृश्यमूलक धर्म को विधिमूलक प्रक्रिया से ही जाना जा सकता है।

(६) पुनः शब्द और अर्थ के सम्बन्ध मानने का तात्पर्य यह भी नहीं है कि दोनों एक ही हैं। जैनों ने उन दोनों की भिन्नता को भी स्वीकार किया। लेकिन यह भिन्नता पूर्ण भिन्नता नहीं है। कथंचित् भिन्नता ही है। जैन भी गाय नामक वस्तु और गाय शब्द में तादात्म्य नहीं मानते हैं, वे दोनों में भिन्नता मानकर भी दोनों में वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानते हैं। दो भिन्न एवं स्वतन्त्र वस्तुएँ भी एक दूसरे से सम्बन्धित हो सकती हैं जैसे—पति-पत्नी। अतः शब्द और अर्थ में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद मानना ही उचित है और इसी से उनका वाच्य-वाचक सम्बन्ध सिद्ध होता है।

(७) पुनः अन्यापोह या अतद्-व्यावृत्ति के बौद्धों के इस सिद्धान्त में अन्योन्याश्रय दोष भी आता है क्योंकि 'अगो' के व्यवच्छेद (निषेध) से 'गो' की प्रतिपत्ति होती है और 'गो' के व्यवच्छेद (निषेध) से 'अगो' की प्रतिपत्ति होती है और यह दोहरा निषेध विधि रूप ही सिद्ध होता है। अतद् के निषेध से जिसकी उपलब्धि होती है वह तो विधि रूप ही होगा।

(८) पुनः जिसे 'गो' शब्द का अर्थ ज्ञात न हो वह 'अगो' शब्द का अर्थ भी नहीं जान पायेगा अर्थात् व्यवच्छेद (निषेध) के लिए भी विधि रूप ज्ञान आवश्यक है।

(९) पुनः, अनेक स्थितियों में शब्दों के परस्पर एक दूसरे का पूर्ण निषेध करने वाले ऐसे दो व्यावर्तक वर्ग भी नहीं बन पाते हैं। उदाहरण के लिए सर्व शब्द से परिहृत असर्व शब्द निरर्थक होता है।

(१०) यदि सभी शब्दों का वाच्यार्थ अतद्-व्यावृत्ति या निषेध ही है तो ऐसी स्थिति में सभी शब्द निषेध या व्यावृत्ति के वाचक होने से पर्यायवाची हो जायेंगे, क्योंकि उनके वाच्यभूत विषय के तुच्छ स्वभाव होने के कारण उनमें कोई भी भेद नहीं रहेगा। स्वरूपतः एक ही स्वभाव के अर्थात् निषेध-मूलक होने के कारण उनमें कोई भेद नहीं है और उनके वाच्य विषय के विकल्पित होने के कारण भी उनमें कोई भेद नहीं होगा और ऐसा होने पर विशेषण विशेष्य भेद, अतीत अनागत आदि काल-भेद, स्त्री पुरुषादि लिंग-भेद, गो, महिष आदि जाति-भेद, एकवचन, द्विवचन आदि वचन-भेद भी नहीं रह जायेंगे। पुन यदि बौद्ध अपोह में भेद स्वीकार करेंगे तो फिर वह अपोह भी विकल्प रूप न रह कर वस्तु रूप हो जायेगा और इस प्रकार प्रकारान्तर से जैन मत का ही समर्थन होगा। डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय का अभिमत है कि अपोह केवल निषेध मूलक नहीं है। वे लिखते हैं कि— अपोह में प्रत्यक्ष और कल्पना, वस्तु और अवस्तु, विधि और निषेध, इनका एक जटिल मिश्रण है।

आकृतिवाद और जैनदर्शन

शब्द का वाच्यार्थ सामान्य है अथवा विशेष—इस चर्चा के प्रसंग में हमने देखा था कि जैन दार्शनिक शब्द के वाच्यार्थ को जात्यन्वित व्यक्ति/सामान्यान्वित-विशेष मानते हैं। यद्यपि यह प्रश्न फिर भी समाधान की प्रतीक्षा करता है कि यह सामान्यान्वित-विशेष क्या है? यह वस्तु है या बुद्धयर्थ। बुद्धयर्थ से तात्पर्य मानसिक बिम्ब या चित्त-विकल्प से है। जहाँ न्यायवैशेषिक उसे वस्तु मानते हैं वहाँ वैयाकरणिक और किसी सीमा तक बौद्ध उसे बुद्धयर्थ या बुद्धि-आकार मानते हैं। जैन इन दोनों के मध्य एक समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, उनके अनुसार शब्द का वाच्यार्थ न तो बुद्ध्याकार या ज्ञानाकार या चित्त विकल्प है और न बाह्यवस्तु; अपितु शब्द श्रवण से वस्तु की चेतना में उद्भूत आकृति है। साकार ज्ञानवाद के आधार पर यह सिद्धान्त आकृतिवाद कहा जाता है।^१ शब्दों के श्रवण या चिन्तन के माध्यम से हमारी चेतना में शब्द द्वारा वाच्य वस्तु की एक आकृति उभरती या प्रतिबिम्बित होती है और यही आकृति हमारे संवेदन या बोध का विषय होती है। जब हम 'गाय' शब्द सुनते हैं तो हमारी चेतना में गाय की आकृति का सम्वेदन या बोध होता है जो कि अश्व की आकृति से भिन्न होता है। इसी आकृति के सहारे तद्रूप वस्तु में हमारी प्रवृत्ति होती है। अतः शब्द का वाच्यार्थ अनुभवगम्य वस्तु की एक आकृति है। गाय शब्द के श्रवण से गलकम्बल

१. अपोहसिद्धि (रत्नकीर्ति)—अनु० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, पृ० ४०।

२. विस्तृत विवेचन के लिए देखें—Indian Logic—B. N. Singh, P. 222।

युक्त पशु की आकृति चेतना में उभरती है और उसके पश्चात् तद्रूप गाय वस्तु में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार जैनों के अनुसार यद्यपि शब्द से संकेत ग्रहण यथार्थवस्तु (Real object) में होता है, किन्तु शब्द जिसका पर्याय है वह आकृति है, किन्तु यह विशेषान्वित ही है।

जैन इसके साथ यह भी मानते हैं कि शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण या चेतना में शब्द के विषय की आकृति का निर्माण ज्ञान और प्रवचन के द्वारा होता है। जब माता-पिता, गुरु आदि गाय शब्द का उच्चारण करके गाय नामक वस्तु दिखाते हैं तो हम जान जाते हैं कि गाय शब्द का वाच्यार्थ वह पशु है जो गलकम्बलयुक्त है। पुनः गाय शब्द का वाच्य-विषय एक यथार्थ वस्तु है किन्तु उसका वाच्यार्थ गाय की आकृति है। जैन वाच्य-विषय और वाच्यार्थ में भेद करते हैं। शब्द का वाच्य-विषय बाह्य वस्तु है किन्तु उसका वाच्यार्थ या तात्पर्य आकृति है। आकृति ही ऐसा तत्त्व है जो एक ओर बाह्यार्थ (Object) से तथा दूसरी ओर वाच्यार्थ (Meaning) से सम्बन्धित होता है।

न्यायदर्शनिकों ने इस आकृतिवाद के सिद्धान्त की निम्न आलोचना की है। प्रथमतः चूँकि व्यक्ति अनेक हैं इसलिए आकृति अनेक होंगी। पुनः एक व्यक्ति की आकृति दूसरे व्यक्ति की आकृति से भिन्न होती है। एक शब्द परस्पर भिन्न अनेक आकृतियों का वाचक नहीं हो सकता है। पुनः किसी भी व्यक्ति के लिए यह असम्भव है कि वह उस जाति की सभी व्यक्तियों की आकृति को जान लें क्योंकि विशेष या व्यक्ति अनेक और अलग-अलग हैं इसलिए उनकी कोई एक आकृति नहीं हो सकती। एक सफेद गाय की आकृति काली गाय की आकृति से अवश्य भिन्न होगी। अतः आकृतिवाद को मानने पर शब्द के अनेक वाच्यार्थ मानने होंगे। पुनः व्यक्ति में ही क्रिया-कारित्व हो सकता है, आकृति में अर्थक्रियाकारित्व सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को गाय लाने या हटाने के लिए कहता है तो दूसरा व्यक्ति गाय के चित्र या उसकी मूर्ति को नहीं लाता है। अतः नैयायिकों का कथन है कि आकृतिवाद को यह अवधारणा समुचित नहीं है। जैनों ने भी ऐकान्तिक आकृतिवाद की आलोचना की है।^१

वस्तुतः आकृतिवाद का यह सिद्धान्त भारतीय परम्परा की दृष्टि से नैयायिकों और वैयाकरणिकों की विचारधारा के समन्वय का प्रयत्न है। नैयायिक शब्द का वाच्यार्थ वस्तु मानते हैं और वैयाकरणिक तथा किसी सीमा तक बौद्ध उसे बुद्ध्याकार मानते हैं। जैन अपने आकृतिवाद में इन दोनों का समन्वय इस प्रकार करते हैं कि एक ओर उसमें वाच्यार्थ के चेतनसिक पक्ष या बुद्ध्याकार का ग्रहण हो जाता है तो दूसरी ओर वह बुद्ध्याकार काल्पनिक न होकर के यथार्थ होता है क्योंकि आकृति सदैव ही किसी अनुभूत यथार्थ वस्तु की ही होती है। आकृतिवाद सामान्य के स्वरूप के सम्बन्ध में नामवाद और वस्तुवाद के बीच की स्थिति है। वह यह मानता है कि सामान्य जिसे मीमांसक शब्द का वाच्य मानते हैं वह न तो केवल नाम (मानसिक कल्पना) है और न विशेष या व्यक्ति से पृथक् उसकी कोई स्वतंत्र यथार्थ सत्ता ही है। वह एक ऐसा मानसिक बिम्ब या आकृति है जो विभिन्न विशेषों/व्यक्तियों की सादृश्यता के आधार पर बनती है। वह मानसिक होते हुए भी काल्पनिक या अयथार्थ नहीं है। जैन इसे ही शब्द का वाच्यार्थ मानते हैं साथ ही यह मानते हैं कि इस आकृति के आधार पर जिसमें संकेत ग्रहण होता है वह वास्तविक वस्तु विशेष है। शब्द से जिस वस्तु विशेष का ग्रहण होता है वह अपनी वर्ग की वस्तुओं से कथंचित् सादृश्य

रखती है और इसी सादृश्यता के आधार पर हम उन सभी सादृश्य रखनेवाली वस्तुओं को एक ही शब्द का वाच्यार्थ मानते हैं।

जैनों का यह आकृतिवाद का सिद्धान्त विटगेन्स्टाइन के चित्र सिद्धान्त (Picture theory) से किसी सीमा तक समानता रखता है। विटगेन्स्टाइन आरम्भ में यही मानते थे कि शब्द या कथन यथार्थ जगत् के चित्र हैं और भाषा हमें इन चित्रों के माध्यम से यथार्थ जगत् सम्बन्धित करती है¹। यद्यपि आगे चल कर उसने इस चित्र सिद्धान्त के स्थान पर उपयोग सिद्धान्त (Use theory) को अधिक उपयुक्त माना और यह बताया कि शब्दों का वाच्यार्थ उनके श्रवण से उद्भाषित होने वाली आकृति के स्थान पर उनके प्रयोग संदर्भ पर निर्भर करता है। शब्द का वाच्यार्थ क्या है यह इस बात पर निर्भर है कि उसे किस सन्दर्भ में और किस प्रकार प्रयुक्त किया गया है। विटगेन्स्टाइन ने अपने परवर्ती ग्रन्थ Philosophical Investigation में इस उपयोग सिद्धान्त पर अधिक बल दिया है²।

जहाँ तक जैन दार्शनिक अवधारणाओं का प्रश्न है हमें विटगेन्स्टाइन के इन दोनों ही सिद्धान्तों के पूर्व बीज उनमें उपस्थित मिलते हैं। एक ओर वे शब्द का वाच्यार्थ आकृति मानकर, विटगेन्स्टाइन के चित्र-सिद्धान्त का समर्थन करते हैं तो दूसरी ओर शब्द के वाच्यार्थ के निर्धारण में अभिसमय-परम्परा या प्रयोग-सन्दर्भ को स्थान देकर विटगेन्स्टाइन के उपयोग-सिद्धान्त का भी समर्थन करते हैं। वस्तुतः मेरी दृष्टि में ये दोनों अवधारणायें एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। शब्द को सुनकर हमारी चेतना में एक आकृति उभरती है किन्तु किस शब्द के किस प्रकार के प्रयोग से किस प्रकार की आकृति उभरेगी इसका निर्धारण अभिसमय/परम्परा या प्रयोग-सन्दर्भ ही निश्चित करेगा। वस्तुतः शब्द के वाच्यार्थ के संदर्भ में जैनों का आकृतिवाद का यह सिद्धान्त इस सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न मतवादों के समन्वय का एक प्रयास है। जैनों ने अपने अनेकान्तिक दृष्टि के आधार पर शब्द के वाच्यार्थ को लेकर तत्कालीन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है यही उनके शब्द दर्शन की विशेषता है।

पद का स्वरूप—अकेले अक्षरों/वर्णों से अथवा उनके विभिन्न संयोगों से शब्दों एवं पदों की रचना होती है। यद्यपि यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्णों का ऐसा समूह जो किसी का वाचक या द्योतक होता है शब्द/पद कहलाता है, इसके विपरीत वर्णों का ऐसा समूह जो किसी का वाचक संकेतक नहीं होता है, शब्द पद की कोटि में नहीं आता है। उदाहरण के लिए 'कलम' शब्द सार्थक है क्योंकि वह वस्तु/अर्थ का वाचक या संकेतक है अतः शब्द/पद है जबकि 'मकल' निरर्थक है क्योंकि किसी वस्तु का वाचक नहीं है अतः शब्द/पद नहीं है। जैनाचार्यों के अनुसार जिसके द्वारा अर्थ (वाच्य-विषय) को जाना जाता है अथवा जिसके द्वारा अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है वह पद

1. (a) The proposition is a picture of reality.—4·01

(b) The waves of sound, all stand to one another in that pictorial internal relation which holds between language and the world. 4.014

—Tractatus logico-philosophicus (Ludwig Wittgenstein)

2. See—Philosophical Investigation 139 Page. 54.

है।^१ यद्यपि प्रमाणनयतत्वालोकालंकार में वादिदेवसूरी ने सापेक्ष वर्णों के निरपेक्ष समूह को पद कहा है^२ किन्तु मेरी दृष्टि में यह परिभाषा चाहे 'शब्द' के सम्बन्ध में समुचित हो पद के सम्बन्ध में समुचित नहीं मानी जा सकती है क्योंकि पद वाक्य-सापेक्ष ही होगा। न्याय दर्शन में शब्द और पद में अन्तर करते हुए कहा गया है वर्णों के अन्त में यथाशास्त्रानुसार विभक्ति होने से पद संज्ञा होती है।^३ वस्तुतः शब्द और पद में अन्तर यह है कि विभक्ति रहित होने से शब्द का अर्थ (वाच्य) वाक्य निरपेक्ष होता है जबकि विभक्ति युक्त होने से पद का अर्थ (वाच्य) वाक्य सापेक्ष होता है। विभक्ति युक्त शब्द या शब्द-समूह ही पद होता है। दूसरे शब्दों में वाक्य के अंग के रूप में प्रयुक्त शब्द पद होता है।

शब्द, पद और वाक्य का अन्तर

शब्द और पद में अन्तर यही है कि शब्द को अपने अर्थ के लिए वाक्य की अपेक्षा नहीं रहती है जबकि पद को रहती है, क्योंकि वह वाक्यांश होता है। उदाहरण के लिए 'गाय' शब्द को अपने अर्थ (वाक्य-विषय) का अवबोध कराने के लिए वाक्य की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु 'गाय को'—इस पद का अर्थ तब तक स्पष्ट नहीं होगा—जब तक कि हमारे समक्ष पूरा वाक्य—'गायको लाओ या गायको दूहो' न हो। यही शब्द और पद में अन्तर है। वाक्य में प्रयुक्त विभक्तियुक्त शब्द ही पद कहलाता है। पद वाक्यांश होता है, उसका अर्थ वाक्य-सापेक्ष होता है, जबकि शब्द वाक्य निरपेक्ष होता है। वाक्य में प्रयुक्त विभक्तियुक्त शब्द ही पद बन जाता है। पद वाक्य-सापेक्ष होकर ही वाच्यार्थ का प्रतिपादन करता है यही उनकी शब्द से भिन्नता है। पुनः पद वाक्य का एक विभाग है, वाक्य ही एक ऐसी इकाई है जो पदों एवं प्रकारान्तर से शब्दों के वाच्यार्थ का निर्धारण करती है। अतः अग्रिम अध्याय में हम वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे।



१. (अ) पद्यते जायतेऽर्थोऽनेनेति पदम् ।

(ब) अत्यालावो अत्याव्रगमस्स पदं ।

२. वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहतिः पद ।

३. ते विभक्तयन्ताः पदम् ।

—अभिधानराजेन्द्र खण्ड ५ पृ० ५०२

—ध्वला १०४, २, ४, ११८।६

—प्रमाणनयतत्वालोकालंकार ४।१०

—न्यायसूत्र २।२।५५

जैन वाक्यदर्शन

वाक्य भाषायी अभिव्यक्ति की एक महत्वपूर्ण इकाई है। वाक्य की परिभाषा को लेकर विभिन्न दार्शनिकों के विचारों में मतभेद पाया जाता है। प्रस्तुत विवेचन में हम सर्वप्रथम जैन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित वाक्य के स्वरूप को स्पष्ट करेंगे और उसके बाद वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में अन्य दार्शनिक अवधारणाओं को और उनकी जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षा को प्रस्तुत करेंगे तथा यह देखने का प्रयास करेंगे कि जैन दार्शनिकों ने वाक्य का जो स्वरूप निश्चित किया है, वह किस सीमा तक तर्कसंगत है।

जैनदर्शन में वाक्य का स्वरूप—प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में वाक्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि “अपने वाच्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए एक दूसरे की परस्पर अपेक्षा रखनेवाले पदों का निरपेक्ष समूह वाक्य है।” वाक्य की इस परिभाषा से हमारे सामने दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि वाक्य की रचना करनेवाले पद अपने वाच्यार्थ का अवबोध कराने के लिए परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं किन्तु उनसे निर्मित वह वाक्य अपने वाक्यार्थ का अवबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। दूसरे शब्दों में अपना अर्थबोध कराने में वाक्य स्वयं समर्थ होता है किन्तु पद स्वयं समर्थ नहीं होते हैं। जब सापेक्ष या साकांक्षपद परस्पर मिलकर एक ऐसे समूह का निर्माण कर लेते हैं जिसे अपना अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, तब वाक्य बनता है। संक्षेप में साकांक्ष/सापेक्ष पदों का निरपेक्ष/निःकांक्ष समूह वाक्य है। पदों की सापेक्षता और उनसे निर्मित समूह की निरपेक्षता ही वाक्य का मूलतत्त्व है। वाक्य का प्रत्येक पद दूसरे पद की अपेक्षा रखता है। वह दूसरे के बिना अपूर्ण सा प्रतीत होता है। अपने अर्थबोध के लिए दूसरे की आकांक्षा या अपेक्षा रखने वाला पद साकांक्ष पद कहलाता है और जितने साकांक्ष पदों को मिलाकर यह आकांक्षा पूरी हो जाती है, वह इकाई वाक्य कही जाती। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार जहाँ वाक्य में प्रयुक्त पद सापेक्ष या साकांक्ष होते हैं वहाँ उन पदों से निर्मित वाक्य अपना अर्थबोध कराने की दृष्टि से निरपेक्ष या निराकांक्ष होता है। वस्तुतः परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखनेवाले सापेक्ष या साकांक्ष पदों को मिलाकर जब एक ऐसे समूह की रचना कर दी जाती है जिसे अपने अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रहती है, तब वाक्य बन जाता है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों के अनुसार वाक्य में पदों की दृष्टि से सापेक्षता और पद-समूह की दृष्टि से निरपेक्षता होती है। इसका तात्पर्य यह है कि वाक्य एक ऐसी इकाई है जो सापेक्ष या साकांक्ष पदों से निर्मित होकर भी अपने आप में निरपेक्ष

१. (अ) पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति । —प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४५८ ।
 (ब) पदानां पुनर्वाक्यार्थं प्रत्यायने विधेयेऽन्योन्यं निर्मितोपकारमनुसरतां वाक्यान्तरस्थ पदापेक्षा रहित्वा संहतिर्वाक्यमभिधीयते । —स्याद्वाचरत्नाकर पृ० ९४१ ।

होती है। पद वाक्य के आवश्यक अंग हैं और वाक्य इनसे निर्मित एक निरपेक्ष इकाई है। वाक्य खण्डात्मक इकाईयों से निर्मित एक अखंड रचना है।

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत और उनकी समालोचना

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने के लिए जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में वाक्यपदीय से दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें उस काल में प्रचलित वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाओं का एक संक्षिप्त परिचय मिल जाता है—^२

आख्यातशब्दः, संघातो जातिसंघातवर्तिनी । एकोऽनवयव शब्दः क्रमो बुद्धयनुसंहतिः ॥

पदमाद्यं, पृथक्सर्वपदं, साकांक्षमित्यपि । वाक्यं प्रति मतिभिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम् ॥

—वाक्यपदीय २।१-२

भारतीय दार्शनिकों में वाक्य के स्वरूप को लेकर दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं। वैयाकरणिकों का मत है कि वाक्य एक अखंड इकाई है। वे वाक्य में पद को महत्वपूर्ण नहीं मानते हैं, उनके अनुसार वाक्य से पृथक् पद का कोई अस्तित्व ही नहीं है जबकि दूसरा दृष्टिकोण जिसका समर्थन न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि दर्शन करते हैं, वाक्य को खण्डात्मक इकाईयों अर्थात् शब्दों और पदों से निर्मित मानता है। इन विचारकों के अनुसार पद वाक्य का एक महत्वपूर्ण अंग है और अपने आप में एक स्वतन्त्र इकाई है। यद्यपि इस प्रश्न को लेकर कि क्रियापद (आख्यात पद) अथवा उद्देश्य पद आदि में कौन सा पद वाक्य का प्राण है—इन विचारकों में भी मतभेद पाया जाता है। वाक्यपदीय के आधार पर प्रभाचन्द्र ने वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप के सम्बन्ध में निम्न मतों का उल्लेख कर उनकी समीक्षा की है।

(१) आख्यात पद ही वाक्य है

कुछ दार्शनिकों के अनुसार आख्यात पद या क्रियापद ही वाक्य का प्राण है। वही वाक्य का अर्थ वहन करने में समर्थ है। क्रिया पद के अभाव में वाक्यार्थ स्पष्ट नहीं होता अतः वाक्यार्थ के अवबोध में क्रिया पद अथवा आख्यात पद ही प्रधान है, अन्य पद गौण है।

इस मत की समालोचना करते हुए प्रभाचन्द्र लिखते हैं कि आख्यातपद अर्थात् क्रियापद अन्य पदों से निरपेक्ष होकर वाक्य है या सापेक्ष होकर वाक्य है? यदि प्रथम विकल्प के आधार पर यह माना जाये कि आख्यात पद अन्य पदों से निरपेक्ष होकर वाक्य है तो यह मान्यता दो दृष्टिकोणों से युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि प्रथम तो अन्य पदों से निरपेक्ष होने पर आख्यात पद न तो 'पद' ही रहेगा और न 'वाक्य' के स्वरूप को प्राप्त होगा। दूसरे यदि अन्य पदों से निरपेक्ष आख्यात पद

१. विस्तृत विवेचन एवं मूल सन्दर्भ के लिए देखें—

(अ) प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४५८ से ४६५ ।

(ब) स्याद्वादरत्नाकर पृ० ६४१ से ६४७ ।

(स) भाषातत्त्व एवं वाक्यपदीय पृ० ८५ से ९६ ।

२. प्रमेयकमलमार्तण्ड के ४५९ पर उद्धृत वाक्यपदीय के ये दो श्लोक अशुद्ध हैं—हमने उन्हें शुद्ध करके दिया है। उसमें दूसरे श्लोक के प्रथम चरण में 'पदमाद्यं पदं चान्त्यं' ऐसा पाठ है जबकि अन्यत्र 'पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं' ऐसा पाठ मिलता है जो कि अधिक शुद्ध है।

अर्थात् क्रियापद को ही वाक्य माना जाये तो फिर आख्यात पद का ही अभाव होगा क्योंकि आख्यात पद अर्थात् क्रियापद, वह है जो उद्देश्य और विधेय के अथवा अपने और उद्देश्य के पारस्परिक सम्बन्ध को सूचित करता है। उद्देश्य या विधेय पद से निरपेक्ष होकर तो वह अपना अर्थात् आख्यातपद का स्वरूप ही खो चुकेगा क्योंकि निरपेक्ष होने से वह न तो उद्देश्यपद और विधेयपद के सम्बन्ध को और न उद्देश्य पद और अपने सम्बन्ध को सूचित करेगा। पुनः यदि आख्यातपद अन्य पदों से सापेक्ष होकर वाक्य है तो वह कथंचित् सापेक्ष होकर वाक्य है या पूर्णतया सापेक्ष होकर वाक्य है। इसमें भी प्रथम मत के अनुसार यदि यह माना जाये कि वह कथंचित् सापेक्ष होकर वाक्य है तो इससे तो जैन मत का ही समर्थन होगा। पुनः यदि दूसरे विकल्प के अनुसार यह माना जाये कि वह पूर्ण सापेक्ष होकर वाक्य है तो पूर्ण सापेक्षता के कारण उसमें वाक्यत्व का ही अभाव होगा और वाक्यत्व का अभाव होने से उसके प्रकृत अर्थ अर्थात् आख्यात स्वभाव का ही अभाव होगा, वह अर्द्धवाक्यवत् होगा क्योंकि पूर्ण सापेक्ष होने के कारण उसे अपना अर्थबोध कराने के लिए अन्य किसी की अपेक्षा बनी रहेगी। अन्य किसी की अपेक्षा रहने से वह वाक्य के स्वरूप को प्राप्त नहीं होगा क्योंकि वाक्य तो सापेक्ष पदों की निरपेक्ष संहति अर्थात् इकाई है। अतः जैनों के अनुसार कथंचित् सापेक्ष और कथंचित् निरपेक्ष होकर ही आख्यात पद वाक्य हो सकता है। इसका तात्पर्य है कि वह अन्य पदों से मिलकर ही वाक्य स्वरूप को प्राप्त होता है। आख्यातपद वाक्य का चाहे एक महत्वपूर्ण अंग हो, किन्तु वह अकेला वाक्य नहीं है।

यह सत्य है कि अनेक स्थितियों में केवल क्रियापद के उच्चारण से सन्दर्भ के आधार पर वाक्यार्थ का बोध हो जाता है, किन्तु वहाँ भी गौणरूप से अन्य पदों की उपस्थिति तो है। 'खाओ' कहने से न केवल खाने की क्रिया की सूचना मिलती है, अपितु खाने वाले व्यक्ति और खाद्य वस्तु का भी अव्यक्त रूप से निर्देश होता है क्योंकि बिना खाने वाले और खाद्य वस्तु के उसका कोई मतलब नहीं है। हिन्दी भाषा में 'लीजिए' 'पाइए' आदि ऐसे आख्यात पद हैं जो एक एक होकर भी वाक्यार्थ का बोध कराते हैं, किन्तु इनमें अन्य पदों का गौणरूप से संकेत तो हो ही जाता है। संस्कृत भाषा में "गच्छामि" इस क्रियापद के प्रयोग में "अहं" और "गच्छति" इस क्रियापद के प्रयोग में "सः" का गौण रूप से निर्देश तो रहा ही है। क्रियापद को सदैव व्यक्त या अव्यक्त रूप में कर्तापद की अपेक्षा तो होती ही है अतः आख्यात पद अन्य पदों से कथंचित् सापेक्ष होकर ही वाक्यार्थ का अवबोध करता है—यह मानना ही समुचित है और इस रूप में यह मत जैन दार्शनिकों को भी स्वीकार्य है।

(२) पदों का संघात वाक्य है

बौद्ध दार्शनिकों का यह कहना है कि पदों का संघात ही वाक्य है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वाक्य मात्र पदों का समूह नहीं है। मात्र पदों को एक साथ रखने से वाक्य नहीं बनता है। वाक्य बनने के लिए "कुछ और" चाहिए और यह "कुछ और" पदों के एक विशेष प्रकार के एकीकरण से प्रकट होता है। यह पदों के अर्थ से अधिक एवं बाहरी तत्त्व होता है। पदों के समवेत होने पर आये हुए इस "अर्थाधिक्य" को ही संघातवादी वाक्यार्थ मानते हैं। इस प्रकार संघातवाद में वाक्य को पद के समन्वित समूह के रूप में और वाक्यार्थ को पदों के अर्थ के समन्वित समूह के रूप में स्वीकार किया जाता है किन्तु यहाँ संघात ही महत्वपूर्ण तत्त्व है क्योंकि वह पदों के अर्थ में कुछ नयी बात को भी जोड़ता है। इस मत के अनुसार पदों के संघात में कुछ

एक ऐसा नया तत्त्व होता है जो पदों के अलग-अलग होने पर नहीं होता है। उदाहरण के रूप में “घोड़ा” “घास” “खाता है”—ये तीन पद अलग-अलग रूप में जिस अर्थ के सूचक हैं, इनका संघात या संहति अर्थात् “घोड़ा घास खाता है” उससे भिन्न अर्थ का सूचक है। इस प्रकार संघातवादो पदों के संघात को ही वाक्यार्थ के अवबोध का मुख्य आधार मानते हैं।

संघातवाद की इस मान्यता की समालोचना करते हुए प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखते हैं कि पदों का यह संघात या संगठन देशकृत है या कालकृत। यदि पदों के संघात को देशकृत अथवा कालकृत माना जाये तो यह विकल्प युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि “वाक्य के सुनने में क्रमशः उत्पन्न एवं ध्वंस होने वाले पदों का एक ही देश में या एक ही काल में अवस्थित होकर संघात बनाना सम्भव नहीं है। पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वाक्यरूपता को प्राप्त पद वाक्य से भिन्न है या अभिन्न है। वे भिन्न नहीं हो सकते क्योंकि भिन्न रहने पर वे वाक्यांश नहीं रह जायेंगे और वाक्य के अंश के रूप में उनकी प्रतीति नहीं होगी। पुनः जिस प्रकार एक वर्ण का दूसरे वर्ण से संघात नहीं होता उसी प्रकार एक पद का भी दूसरे पद के साथ संघात नहीं होता है। पुनः यदि संघात अभिन्न रूप में है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है तो वह सर्वथा अभिन्न है या कथंचित् अभिन्न है। यदि सर्वथा अभिन्न माना जायेगा तो संघात संघाती के स्वरूप वाला हो जायेगा, दूसरे शब्दों में पद ही वाक्यरूप हो जायेगा और ऐसी स्थिति में संघात का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। यदि यह संघात कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है तो ऐसी स्थिति में जैन मत का ही समर्थन होगा क्योंकि जैन आचार्यों के अनुसार भी पद वाक्य से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होते हैं। इस रूप में तो यह मत जैनों को भी मान्य होगा अर्थात् जैन मत का ही प्रसंग होगा।

(३) सामान्य तत्त्व (जाति) ही वाक्य है

कुछ विचारकों की मान्यता है कि वाक्य मात्र पदों का संघात नहीं है। वाक्य के समस्त पदों के संघात से होने वाली एक सामान्य प्रतीति ही वाक्य है। इन विचारकों के अनुसार पदों के संघात से एक सामान्य तत्त्व जिसे वे “जाति” कहते हैं, उत्पन्न होता है और यह संघात में अनुस्यूत सामान्य तत्त्व ही वाक्य है। वाक्य में पदों की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रहती है, अपितु वे सब मिलकर एक सामान्य तत्त्व का अर्थबोध देते हैं और यही वाक्यार्थ होता है। इस मत के अनुसार यद्यपि पदों के संघात से ही वाक्य बनता है फिर भी यह मत वाक्य से पृथक् होकर उन पदों की अर्थबोध-सामर्थ्य को स्वीकार नहीं करता है। यद्यपि वाक्य में प्रत्येक पद अपनी सत्ता रखता है तथापि वाक्यार्थ एक अलग इकाई है और पदों का कोई अर्थ हो सकता है तो वाक्य में रहकर ही हो सकता है; जैसे शरीर का कोई अंग अपनी क्रियाशीलता शरीर में रहकर ही बनाये रखता है, स्वतन्त्र होकर नहीं। पद वाक्य के अंग के रूप में ही अपना अर्थ पाते हैं।

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र इस मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यदि जाति या सामान्य तत्त्व का तात्पर्य परस्पर सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह है तो हमें कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वह दृष्टिकोण तो स्वयं जैनों को भी स्वीकार्य है। किन्तु यदि जाति को पदों से भिन्न माना जायेगा तो ऐसी स्थिति में इस मत में भी वे सभी दोष उपस्थित हो जायेंगे जो संघातवाद में दिखाये गये हैं क्योंकि जिस प्रकार पदसंघात पदों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होकर ही अर्थबोध प्रदान करता है उसी प्रकार यह जाति या सामान्य तत्त्व भी पदों से कथंचित् भिन्न

और कथंचित् अभिन्न रहकर ही वाक्यार्थ का अवबोध करा सकता है क्योंकि सामान्य तत्त्व या जाति को व्यक्ति (अंश) से न तो पूर्णतः भिन्न माना जा सकता है और न पूर्णतः अभिन्न ही। पद भी वाक्य से न तो सर्वथा भिन्न होते हैं और न सर्वथा अभिन्न ही। उनकी सापेक्षिक भिन्नाभिन्नता ही वाक्यार्थ की बोधक बनती है।

(४) वाक्य अखण्ड इकाई है

वैयाकरणिक वाक्य को एक अखण्ड सत्ता मानते हैं। उनके अनुसार वाक्य अपने आप में एक इकाई है और वाक्य से पृथक् पद का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जिस प्रकार पद के बनाने-वाले वर्णों में पदार्थ को खोजना व्यर्थ है उसी प्रकार वाक्य को बनाने वाले पदों में वाक्यार्थ का खोजना व्यर्थ है। वस्तुतः एकत्व में ही वाक्यार्थ का बोध होता है। इस मत के अनुसार वाक्य में पद और वर्ण का विभाजन समीचीन नहीं है। वाक्य जिस अर्थ का द्योतक है, वह अर्थ पद या पद-समूह में नहीं है। वाक्य को एक इकाई मानने में जैन आचार्यों को भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि वे स्वयं वाक्य को सापेक्ष पदों की एक निरपेक्ष इकाई मानते हैं। उनका कहना केवल इतना ही है कि वाक्य को एक अखण्ड सत्ता या निरपेक्ष इकाई मानते हुए भी हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उसकी रचना में पदों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अंश से पूर्णतया पृथक् अंशी की कल्पना जिस प्रकार समुचित नहीं—उसी प्रकार पदों को पूर्ण उपेक्षा करके वाक्यार्थ का बोध सम्भव नहीं है। वाक्य निरपेक्ष इकाई होते हुए भी सापेक्ष पद समूह से ही निर्मित है। अतः वे भी वाक्य के महत्त्वपूर्ण घटक हैं, अतः अर्थबोध में उन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

प्रभाचन्द्र वाक्य के इस अखण्डता सिद्धान्त की समालोचना करते हुए कहते हैं कि वाक्य एक अविभाज्य एवं अपद इकाई है, यह मान्यता एक प्रकार की कपोल-कल्पना ही है क्योंकि पद के बिना वाक्य नहीं होता है, वाक्य में साकांक्ष पदों का होना नितान्त आवश्यक है। वाक्य में पदों की पूर्ण अवहेलना करना या यह मानना कि पद और पदार्थ का वाक्य में कोई स्थान ही नहीं है, एक प्रकार से आनुभविक सत्य से विमुख होना ही है। प्रभाचन्द्र ने इस मत के सम्बन्ध में वे सभी आपत्तियाँ उठाई हैं जो कि स्फोटवाद के सम्बन्ध में उठायी जा सकती हैं। यह मत वस्तुतः स्फोटवाद का ही एक रूप है जो वाक्यार्थ के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित करता है कि पद या उनसे निर्मित वाक्य अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं, किन्तु स्फोट (अर्थ का प्राकाश्य) ही अर्थ का प्रतिपादक है। शब्दार्थ के बोध के सम्बन्ध में स्फोटवाद एक मात्र और अन्तिम सिद्धान्त नहीं है क्योंकि यह इसका उत्तर नहीं दे पाता है कि पदाभाव में अर्थ का स्फोट क्यों नहीं हो जाता? अतः वाक्य को अखण्ड और अनवयव नहीं माना जा सकता। क्योंकि पद वाक्य के अपरिहार्य घटक हैं और वे शब्द रूप में वाक्य से स्वतन्त्र होकर भी अपना अर्थ रखते हैं, पुनः पदों के अभाव में वाक्य नहीं होता है अतः वाक्य को अनवयव नहीं कहा जा सकता।

(५) क्रमवाद एवं उसकी समीक्षा

क्रमवाद भी संघातवाद का ही एक विशेष रूप है। उस मत के अनुसार पद को वाक्य का अपरिहार्य अंश तो माना गया है किन्तु पदों की सहस्थिति की अपेक्षा पदों के क्रम को वाक्यार्थ के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। क्रम ही वास्तविक वाक्य है। जिस प्रकार वर्ण यदि एक सुनिश्चित क्रम में नहीं हों तो उनसे पद नहीं बनता है, उसी प्रकार यदि पद भी निश्चित क्रम में

न हों तो उनसे वाक्य नहीं बनेगा। सार्थक वाक्य के लिए पदों का क्रमात्मक विन्यास आवश्यक है। पद-क्रम ही वस्तुतः वाक्य की रचना करता है और उसी से वाक्यार्थ का बोध होता है। पदों का एक अपना अर्थ होता है और एक विशिष्टार्थ। पदों का एक विशिष्ट अर्थ उनमें क्रम पूर्वक विन्यास-दशा में ही व्यक्त होता है। पदों का यह क्रमपूर्वक विन्यास ही वाक्य का स्वरूप ग्रहण करता है।

साथ ही क्रमवाद काल की निरन्तरता पर बल देता है और यह मानता है कि काल का व्यवधान होने से पद-क्रम टूट जाता है और पदक्रम टूटने से वाक्य नष्ट हो जाता है। क्रमवाद में एक पद के बाद आनेवाले दूसरे पद को प्रथम पद का उपकारक स्वीकार किया जाता है। पदों का यह नियत क्रम ही उपचीयमान अर्थात् प्रकट होने वाले अर्थ का द्योतक होता है।

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र इस मत को संघातवाद से अधिक भिन्न नहीं मानते हैं मात्र अन्तर यह है कि जहाँ संघातवाद पदों की सहवर्तिता पर बल देता है, वहाँ क्रमवाद उनके क्रम पर। उनके अनुसार इस मत में भी वे सभी दोष हैं जो संघातवाद में हैं, क्योंकि यहाँ भी देश और काल की विभिन्नता का प्रश्न उठता है—एक देश और काल में क्रम सम्भव नहीं और अलग-अलग देश और काल में पदों की स्थिति मानने पर अर्थबोध में कठिनाई आती है। यद्यपि वाक्य-विन्यास में पदों का क्रम एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है किन्तु यह क्रम साक्षात् पदों में जो कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न रूप से वाक्य में स्थित हैं, ही सम्भव है।

(६) बुद्धिगृहीत तात्पर्य ही वाक्य है इस मत का स्वरूप एवं समीक्षा

कुछ दार्शनिकों की मान्यता है कि शब्द या शब्द-समूह बाह्याकार मात्र हैं, वाक्यार्थ उनमें निहित नहीं है। अतः वाक्य वह है जो बुद्धि के द्वारा ग्रहीत है। बुद्धि की विषयगत एकाग्रता से ही वाक्य बोला जाता है और उसी से वाक्य के अर्थ का ग्रहण होता है। वाक्य का जनक एवं कारण बुद्धि तत्त्व है। वक्ता द्वारा बोलने की क्रिया तभी सम्भव है, जब उसमें सुविचारित रूप में कुछ कहने की इच्छा होती है। अतः बुद्धि या बुद्धितत्त्व ही वाक्य का जनक होता है। बुद्धि के अभाव में न तो वाक्य का उच्चारण सम्भव है और न श्रोता के द्वारा उसका अर्थ ग्रहण ही सम्भव है। अतः वाक्य का आधार बुद्धि-अनुसंहति है।

जैनाचार्य प्रभाचन्द्र इस दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए प्रश्न करते हैं कि यदि बुद्धि तत्त्व ही वाक्य का आधार है तो वह द्रव्य वाक्य है या भाव वाक्य। बुद्धि को द्रव्य वाक्य कहना तर्क संगत नहीं है, क्योंकि द्रव्य वाक्य तो शब्द ध्वनिरूप है, अचेतन है और बुद्धितत्त्व चेतन है अतः दोनों में विरोध है। अतः बुद्धि को द्रव्यवाक्य नहीं माना जा सकता। पुनः यदि यह मानें कि बुद्धि-तत्त्व भाववाक्य है तो फिर सिद्धसाध्यता का दोष होगा। क्योंकि बुद्धि की भाववाक्यता तो सिद्ध ही है। बुद्धितत्त्व को भाववाक्य के रूप में ग्रहण करना जैनों को भी इष्ट है। इस सम्बन्ध में बुद्धि-वाद और जैन दार्शनिक एक मत ही हैं। वाक्य के भावपक्ष या चेतनपक्ष को बौद्धिक मानना जैन-दर्शन को भी स्वीकार्य है और इस दृष्टि से यह मत जैनमत का विरोधी नहीं है।

(७) आद्य पद (प्रथमपद) ही वाक्य है—इस मत का स्वरूप एवं समीक्षा

कुछ विचारकों की मान्यता है कि वाक्य के प्रथमपद का उच्चारण ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है। इस मत के अनुसार वक्ता का अभिप्राय प्रथम पद के

उच्चारण मात्र से ही स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि अन्य पद तो विवक्षा को वहन करने वाले होते हैं। वाक्यपदीय में कहा गया है कि क्रिया से यदि कारक का विनिश्चय सम्भव है तो फिर कारक के कथन से भी क्रिया का निश्चय सम्भव है। यह सिद्धान्त यद्यपि वाक्य में कारक पद के महत्त्व को स्पष्ट करता है फिर भी पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता। जैनाचार्य प्रभाचन्द्र का कहना है कि चाहे वाक्य का प्रथमपद अर्थात् कारक पद हो अथवा अंतिम पद अर्थात् क्रियापद हो वे अन्य पदों की अपेक्षा से हो वाक्यार्थ के बोधक होते हैं, यदि एक ही पद वाक्यार्थ के बोध में समर्थ हो तो फिर वाक्य में अन्य पदों की आवश्यकता ही नहीं रह जावेगी। दूसरे शब्दों में वाक्य में उनके अभाव का प्रसंग होगा। यह सही है कि अनेक प्रसंगों में प्रथम पद (कारक पद) के उच्चारण से ही वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। उदाहरण रूप में जब राज दीवार की चुनाई करते समय ईंट या पत्थर शब्द का उच्चारण करता है तो श्रोता यह समझ जाता है कि उसे ईंट या पत्थर ढोने का आदेश दिया गया है। यहाँ प्रथम पद का उच्चारण सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ का वहन करता है किन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि वे “ईंट” या “पत्थर” शब्द प्रथम पद के रूप में केवल उस सन्दर्भ विशेष में ही वाक्य का स्वरूप ग्रहण करते हैं उससे पृथक् हो करके नहीं। राज के द्वारा उच्चरित पत्थर शब्द पत्थर लाओ का सूचक होगा जबकि छात्र-पुलिस संघर्ष में प्रयुक्त पत्थर शब्द अन्य अर्थ का सूचक होगा। अतः कारक पद केवल किसी सन्दर्भ विशेष में ही वाक्यार्थ बोधक होता है, सर्वत्र नहीं। उसमें भी अव्यक्तरूप से आख्यात पद या क्रिया पद निहित ही रहता है। अतः एकान्तरूप से कारकपद को वाक्य मान लेना उचित नहीं है। राम शब्द का उच्चारण किसी सन्दर्भ में वाक्यार्थ का बोधक हो सकता है, सदैव नहीं। इसलिए केवल आदिपद या कारक को वाक्य नहीं कहा जा सकता। केवल ‘पद’ विशेष को ही वाक्य मान लेना उचित नहीं है, अन्यथा वाक्य में निहित अन्य पद अनावश्यक और निरपेक्ष होंगे, इस स्थिति में उनसे वाक्य बनेगा ही नहीं, पद सदैव साकांक्ष होते हैं और उन साकांक्ष पदों से निर्मित वाक्य निराकांक्ष होता है। अतः वाक्य में पदों का स्थान महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वे स्वतन्त्र रूप से वाक्य नहीं कहे जा सकते हैं।

साकांक्ष पद ही वाक्य है

कुछ विचारकों के अनुसार वाक्य का प्रत्येक पद वाक्य के अंग के रूप में साकांक्ष होते हुए भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इस मत में प्रत्येक पद का व्यक्तित्व स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया जाता है। इस मत के अनुसार पदों का अपना निजो अर्थ उनकी सहभूत/समवेत स्थिति में भी रहता है। यह मत वाक्य में पदों की स्वतन्त्र सत्ता और उनके महत्त्व को स्पष्ट करता है। संघातवाद से इस मत की भिन्नता इस अर्थ में है कि जहाँ संघातवाद और क्रमवाद में पद को प्रमुख स्थान और वाक्य को गौण स्थान प्राप्त होता है, वहाँ इस मत में पदों को साकांक्ष मानकर वाक्य को प्रमुखता दी जाती है। यह मत मानता है कि पद वाक्य के अन्तर्गत ही अपना अर्थ पाते हैं उससे बाहर नहीं। वस्तुतः यह अवधारणा जैन दर्शन के अत्यन्त निकट है, क्योंकि जैन दार्शनिक भी साकांक्ष पदों की निरपेक्ष महति को ही वाक्य कहते हैं।

वाक्य के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण

जैन मत साकांक्ष पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहता है, किन्तु वह पद और वाक्य

दोनों पर ही समान बल देता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार न पदों के अभाव में वाक्य सम्भव हैं और न वाक्य के अभाव में पद ही अपने विशिष्ट अर्थ का प्रकाशन करने में सक्षम होते हैं। पद वाक्य में रहकर ही अपना अर्थ पाते हैं, उससे स्वतन्त्र होकर नहीं। दूसरी ओर पदों के अभाव में वाक्य की सत्ता भी नहीं है। अतः पद और वाक्य दोनों का सापेक्षिक अस्तित्व एवं सापेक्षिक महत्त्व है। दोनों में कोई भी एक दूसरे के अभाव में अपना अर्थबोध नहीं करा सकता है। अर्थबोध कराने लिए पद को वाक्य सापेक्ष और वाक्य को पद सापेक्ष होना होगा। जैन मत में ऊपर वर्णित सभी मतों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार किया जाता है, किन्तु किसी एक पक्ष पर अनावश्यक बल नहीं दिया जाता है, उनका कहना यह है कि पद और वाक्य एक दूसरे से पूर्णतया निरपेक्ष होकर अर्थबोध कराने में समर्थ नहीं हैं। उनकी अर्थबोध सामर्थ्य उनकी पारस्परिक सापेक्षता में निहित है। विभिन्न पदों की सापेक्षता (साक्षात्क्षता) और पद एवं वाक्य की पारस्परिक सापेक्षता में ही वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति होती है, परस्पर निरपेक्ष-पद तथा वाक्य-निरपेक्ष-पद और पद-निरपेक्ष वाक्य की न तो सत्ता ही होती है और न उनमें अर्थबोध कराने की सामर्थ्य ही होती है। अतः वाक्य को परस्पर सापेक्ष पदों की निरपेक्ष संहति मानना ही अधिक तर्कसंगत है।

वाक्यार्थ बोध सम्बन्धी सिद्धान्त

वाक्यार्थ (वाच्य-विषय) का बोध किस प्रकार होता है इस प्रश्न को लेकर भारतीय चिन्तकों में विभिन्न मत पाये जाते हैं। नैयायिक तथा भाट्ट-मीमांसक इस सम्बन्ध में अभिहितान्वयवाद की स्थापना करते हैं। इनके विरोध में मीमांसक प्रभाकर का सम्प्रदाय अन्विताभिधानवाद की स्थापना करता है। इन सिद्धान्तों का विवेचन और जैन दार्शनिकों के द्वारा को गई इनकी समीक्षा प्रस्तुत करते हुए हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि वाक्यार्थ-बोध के सम्बन्ध में समुचित दृष्टिकोण क्या हो सकता है ?

अभिहितान्वयवाद पूर्वपक्ष

कुमारिलभट्ट की मान्यता है कि वाक्यार्थ के बोध में हमें सर्व प्रथम पदों के श्रवण से उन पदों के वाच्य-विषयों अर्थात् पदार्थों का बोध होता है। उसके पश्चात् उनके पूर्व में अज्ञात पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है और इस सम्बद्धता के बोध से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्यार्थ के प्रति पदार्थों का ज्ञान ही कारणभूत है, दूसरे शब्दों में पदों के अर्थ पूर्वक ही वाक्यार्थ अवस्थित है।^१ संक्षेप में पदों से अभिधाशक्ति के द्वारा पदार्थ का बोध होता है, फिर वक्ता के तात्पर्य अर्थात् वक्ता द्वारा किये गये विभक्ति प्रयोग के आधार पर उन पदों के पारस्परिक-सम्बन्ध/अन्वय का ज्ञान होता है और इस अन्वय-बोध अर्थात् पदों की पारस्परिक सम्बद्धता के ज्ञान से वाक्यार्थ का बोध होता है। यही अभिहितान्वयवाद है। क्योंकि इसमें अभिहित अर्थात् पद द्वारा वाच्य पदार्थ के अन्वय अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इस सिद्धान्त में वाक्यार्थ का ज्ञान तीन चरणों में होता है—प्रथम चरण में पदों को सुनकर उनके वाच्य अर्थात् पदार्थों का बोध होता है, उसके पश्चात् दूसरे चरण में उन

१ (अ) पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावनावतः ॥ —मीमांसाश्लोकवार्तिक वाक्या० १११

(ब) पदार्थपूर्वकस्तस्माद्वाक्यार्थोयमवस्थित ॥ —वही ३३६

पदार्थों के पारस्परिक-सम्बन्ध (अन्वय) का ज्ञान होता है। तब तीसरे चरण में इस अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार वाक्य से स्वतन्त्र पदों/शब्दों का अपना एक अलग अर्थ होता है और पदों के इस अर्थ के ज्ञान के आधार पर ही वाक्यार्थ का निश्चय होता है। दूसरे शब्दों में वाक्यार्थ का बोध पदों के अर्थ-बोध पर ही निर्भर करता है; पदों के अर्थ से स्वतन्त्र होकर वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार पदों का वाक्य से एवं दूसरे पदों से निरपेक्ष या स्वतन्त्र अर्थ भी होता, किन्तु वाक्य का पदों के अर्थ से निरपेक्ष अपना कोई अर्थ नहीं होता है। वाक्यार्थ पदों के वाच्यार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय पर निर्भर करता है। जब तक पदों के अर्थों अर्थात् पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है तब तक वाक्यार्थ-बोध नहीं होता है। वाक्यार्थ के बोध के लिए दो बातें आवश्यक हैं—प्रथम पदों के अर्थ का ज्ञान और दूसरे पदों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान। पुनः पदों के पारस्परिक सम्बन्ध के भो चार आधार हैं—(१) आकांक्षा, (२) योग्यता, (३) सन्निधि और (४) तात्पर्य।

१. आकांक्षा—प्रथम पद को सुनकर जो दूसरे पद को सुनने की जिज्ञासा मन में उत्पन्न होती है—उसे ही आकांक्षा कहा जाता है। एक पद को दूसरे पद की जो अपेक्षा रहती है वही आकांक्षा है। आकांक्षा रहित अर्थात् परस्पर निरपेक्ष गाय, अश्व, पुरुष, स्त्री आदि अनेक पदों के उच्चारण से वाक्य नहीं बनता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार भी साकांक्ष अर्थात् परस्पर सापेक्ष पद ही वाक्य की रचना करने में समर्थ होते हैं।

२. योग्यता—योग्यता का तात्पर्य है कि पद से अभिहित पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में कोई विरोध या बाधा नहीं होना चाहिए अर्थात् उनमें पारस्परिक सम्बन्ध की सम्भावना होना चाहिए। उदाहरणार्थ आग से सींचो इस पद समुदाय में वाक्यार्थ बोध की योग्यता नहीं है, क्योंकि आग का सींचने से कोई सम्बन्ध नहीं है। यथार्थतः असम्बन्धित या सम्बन्ध की योग्यता से रहित पदों से वाक्य नहीं बनता है।

३. सन्निधि—सन्निधि का तात्पर्य है एक ही व्यक्ति द्वारा बिना लम्बे अन्तराल के पदों का उच्चारण होना। न तो अनेक व्यक्तियों द्वारा बिना अन्तराल अर्थात् एक साथ बोले गये पदों से वाक्य बनते हैं और न एक ही व्यक्ति द्वारा लम्बे अन्तराल अर्थात् घण्टे-घण्टे भर बाद बोले गये पदों के उच्चारण से वाक्य बनता है।

४. तात्पर्य—वक्ता के अभिप्राय को तात्पर्य कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार यह भी वाक्यार्थ के बोध की आवश्यक शर्त है। बिना वक्ता के अभिप्राय को समझे वाक्यार्थ का सम्यक् निर्णय सम्भव नहीं होता है। विशेष रूप से तब जब कि वाक्य में प्रयुक्त कोई शब्द द्वयार्थक हो, जैसे सैन्धव। सैन्धव लाओ—इस वाक्य का सम्यक् अर्थ वक्ता के अभिप्रायके अभाव में नहीं जाना जा सकता है। इसी प्रकार जब कोई शब्द किसी विशिष्ट अर्थ या व्यंग के रूप में प्रयुक्त किया गया हो या फिर वाक्य में कोई पद अव्यक्त रह गया हो तो विभक्ति-प्रयोग या वक्ता का तात्पर्य ही वाक्यार्थ के समझने का एक आधार होता है।

संक्षेप में, पदों को सुनने से प्रथम अनन्वित (असम्बन्धित) पदार्थ उपस्थित होते हैं फिर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य अर्थात् विभक्ति प्रयोग के आधार पर उनके परस्पर सम्बन्ध का बोध होकर वाक्यार्थ का बोध होता है। यही अभिहितान्वयवाद है।

अभिहितान्वयवाद की समीक्षा^१

जैन तार्किक प्रभाचन्द्र अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवाद की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि यदि वाक्य को सुनकर प्रथम परस्पर असम्बन्धित या अनन्वित पदार्थों का बोध होता है और फिर उनका पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय ज्ञात होता है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उनका यह अन्वय (सम्बद्धीकरण) किस आधार पर होता है ? क्या वाक्य से बाह्य किन्हीं अन्य शब्दों/पदों के द्वारा इनका अन्वय या पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञात होता है या बुद्धि (ज्ञान) के द्वारा इनका अन्वय ज्ञात होता है ? प्रथम विकल्प मान्य नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदों के अर्थों को विषय करने वाला ऐसा कोई अन्वय का निमित्तभूत अन्य शब्द ही नहीं है। पुनः जो शब्द/पद वाक्य में अनुपस्थित है, उनके द्वारा वाक्यस्थ पदों का अन्वय नहीं हो सकता है। यदि दूसरे विकल्प के आधार पर यह माना जाये कि ये बुद्धि के द्वारा अन्वित होते हैं या बुद्धितत्त्व इनमें अन्वय/सम्बन्ध देखता है तो इससे कुमारिल का अभिहितान्वयवाद का सिद्ध न होकर उसका विरोधी सिद्धान्त—अन्विताभिधानवाद—ही सिद्ध होता है। क्योंकि पदों को परस्पर अन्वितरूप में देखने वाली बुद्धि तो स्वयं ही भाव-वाक्य रूप है। यद्यपि कुमारिल की ओर से यह कहा जा सकता है कि चाहे वाक्य परस्पर अन्वित पदों से भिन्न नहीं हो, क्योंकि वह उन्हीं से निमित्त होता है, किन्तु उसके अर्थ का बोध तो उन अनन्वित पदों के अर्थ के बोध पर ही निर्भर करता है, जो सापेक्ष बुद्धि में परस्पर सम्बन्धित या अन्वित प्रतीत होते हैं। इसके प्रत्युत्तर में जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र का तर्क यह है कि पद अपने धातु, लिंग, विभक्ति, प्रत्यय आदि से भिन्न नहीं है, क्योंकि जब भी वे कहे जाते हैं तब अपने अवयवों सहित कहे जाते हैं और उनके अर्थ का बोध उनके परस्पर अन्वित अवयवों के बोध से होता है, अर्थात् चाहे वाक्य का हो या पद का हो, हमें जो भी बोध होता है, वह अन्वितों का ही होता है, अनन्वितों का नहीं होता है। यद्यपि अपने अभिहितान्वयवाद के समर्थन हेतु कुमारिल यह तर्क भी दे सकते हैं कि लोक व्यवहार एवं वेदों में वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति के लिए निरंश शब्द/पद का प्रयोग होता है, धातु, लिंग, विभक्ति या प्रत्यय का पृथक् प्रयोग नहीं होता है, धातु, लिंग, विभक्ति, प्रत्यय आदि तो उनकी व्युत्पत्ति समझाने के लिए उनसे पृथक् किये जाते हैं। एक शब्द एक वर्ण के समान अनवयव (निरंश) होता है, उसके अर्थ को समझने के लिए कल्पना के द्वारा उसके अवयवों को एक दूसरे से पृथक् किया जाता है। वह तो अपने में निरंश होने के कारण अनन्वित ही होता है, अन्वय तो किया जाता है। कुमारिल के इस तर्क के विरुद्ध प्रभाचन्द्र का कहना है कि जिस आधार पर शब्द को अपने अर्थबोध के लिए एक निरंश/अखण्ड इकाई माना जा सकता है उसी आधार पर वाक्य को भी एक निरंश अखण्ड इकाई माना जा सकता है और यह कहा जा सकता है कि वाक्य की संरचना को स्पष्ट करने के लिए शब्दों को (कल्पना में) पृथक् किया जाता है वस्तुतः वाक्य अखण्ड इकाई है अतः उसमें अन्वितों का ही अभिधान होता है। लोक व्यवहार में एवं वेदों में वाक्यों का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि पदार्थों की प्राप्ति या अप्राप्ति के लिए क्रिया की जा सके। वाक्यार्थ ही क्रिया का प्रेरक होता है, पदार्थ नहीं। अतः वाक्य को एक इकाई मानना होगा और इस रूप में वह अन्वित पदों का ही अभिधान करेगा।

इस प्रकार प्रभाचन्द्र इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस प्रकार शब्द/पद से धातु, लिंग,

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्र) पृ० ४६४-६५।

प्रत्यय आदि आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से अभिन्न होते हैं, उसी प्रकार वाक्य से पद भी आंशिक रूप से भिन्न और आंशिक रूप से अभिन्न होता है। प्रथम तो पद अपने वाक्य के घटक पदों से अन्वित या सम्बद्ध होता है और अन्य वाक्य के घटक पदों से अनन्वित या असम्बद्ध होता है। साथ ही वह अन्वित होकर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है दूसरे द्रव्य-वाक्य में शब्द अलग-अलग होते हैं किन्तु भाव-वाक्य (बुद्धि) में वे परस्पर सम्बन्धित या अन्वित होते हैं।

मेरी दृष्टि में यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चाहे वाक्यों से पृथक् शब्दों का अपना अर्थ होता हो, किन्तु जब वे वाक्य में प्रयुक्त किये गये हों, तब उनका वाक्य से स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं रह जाता है। उदाहरण के रूप में शतरंज खेलते समय उच्चरित वाक्य यथा—‘राजा मर गया’ या ‘मैं तुम्हारे राजा को मार दूँगा’—में पदों के वाक्य से स्वतन्त्र अपने निजी अर्थों से वाक्यार्थ बोध में कोई सहायता नहीं मिलती है। यहाँ सम्पूर्ण वाक्य का एक विशिष्ट अर्थ होता है जो प्रयुक्त शब्दों/पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों पर बिलकुल ही निर्भर नहीं करता है। अतः यह मानना कि वाक्यार्थ के प्रति अनन्वित पदों के अर्थ ही कारणभूत हैं, न्यायसंगत नहीं है। अनेक बार वाक्य रूपी इकाई ही पद रूपी अपने घटकों का अर्थ निर्धारित करती है।

अन्विताभिधानवाद पूर्वपक्ष

मीमांसा-दर्शन के दूसरे प्रमुख आचार्य प्रभाकर के मत को अन्विताभिधानवाद कहा गया है। जहाँ कुमारिल भट्ट अपने अभिहितान्वयवाद में यह मानते हैं कि वाक्यार्थ के बोध में पहले पदार्थ अभिहित होता हो और उसके बाद उन पदार्थों के अन्वय से वाक्यार्थ का बोध होता है, वहाँ प्रभाकर अपने अन्विताभिधानवाद में यह मानते हैं कि अन्वित पदार्थों का ही अभिधा शक्ति से बोध होता है। वाक्य में पद परस्पर सम्बन्धित होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान (अन्वय) से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। वाक्य में प्रयुक्त पदों का सामूहिक या समग्र अर्थ होता है और वाक्य से पृथक् उनका कोई अर्थ नहीं होता है।

इस सिद्धान्त में पद से पदार्थ-बोध के पश्चात् उनके अन्वय को न मानकर वाक्य को सुनकर सीधा अन्वित पदार्थों का ही बोध माना गया है। इसलिए इस सिद्धान्त में तात्पर्य-आख्या-शक्ति की भी आवश्यकता नहीं मानी गई है। इस मत के अनुसार पदों को सुनकर संकेत ग्रहण केवल अनन्वित पदार्थ में नहीं होता है, अपितु किसी के साथ अन्वित या सम्बन्धित पदार्थ में हो होता है। अतएव अभिहित का अन्वय न मानकर अन्वित का अभिधान मानना चाहिए—यही इस मत का सार है। यह मत मानता है कि वाक्यार्थ वाच्य ही होता है, तात्पर्य-शक्ति से बाद को प्रतीत नहीं होता है।

उदाहरण के रूप में ताश खेलते समय उच्चरित वाक्य ‘ईट चलो’ के अर्थबोध में प्रथम पदों के अर्थ का बोध, फिर उनके अन्वय से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है अपितु सीधा ही वाक्यार्थ का बोध होता है। क्योंकि यहाँ ईट शब्द ईट नामक वस्तु का वाचक न होकर ईट की आकृति से युक्त ताश के पत्ते का वाचक है और ‘चलना’ शब्द गमन क्रिया का वाचक न होकर पत्ता डालने का वाचक है। इसी आधार पर अन्विताभिधान की मान्यता है कि वाक्यार्थ के बोध में

पद परस्पर अन्वित ही प्रतीत होते हैं। प्रत्येक पूर्ववर्ती पद अपने परवर्ती पद से अन्वित होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराता है अतः वाक्य को सुनकर अन्वितों का ही अभिधान (ज्ञान) होता है।

यद्यपि यह सिद्धान्त यह मानता है कि पद अपने अर्थ का स्मारक (स्मरण करानेवाला) अवश्य होता है किन्तु वाक्यार्थ के बोध में वह अन्य पदों से अन्वित (सम्बद्ध) होकर ही अर्थबोध देता है, अपना स्वतन्त्र अर्थबोध नहीं देना है।

अन्विताभिधानवाद की समीक्षा^१

प्रभाचन्द्र अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध निम्न आक्षेप प्रस्तुत करते हैं—

प्रथमतः यदि यह माना जाता है कि वाक्य के पद परस्पर अन्वित या एक दूसरे से सम्बन्धित होकर ही अनुभूत होते हैं अर्थात् अन्वित रूप में ही उनका अभिधान होता है तो फिर प्रथम पद के श्रवण से वाक्यार्थ का बोध हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसी स्थिति में अन्य पदों का उच्चारण ही व्यर्थ हो जायेगा। साथ ही प्रथम पद को वाक्यत्व प्राप्त हो जायेगा अथवा वाक्य का प्रत्येक पद स्वतन्त्र रूप से वाक्यत्व को प्राप्त कर लेगा। पूर्वोत्तर पदों के परस्पर अन्वित होने के कारण एक पद के श्रवण से ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध हो जायेगा। प्रभाचन्द्र के इस तर्क के विरोध में यदि अन्विताभिधानवाद की ओर से यह कहा जाये कि अविबक्षित (अवाञ्छित) पदों के व्यवच्छेद (निषेध) के लिए अन्य पदों का उच्चारण व्यर्थ नहीं माना जा सकता है तो जैनदर्शन का प्रत्युत्तर यह होगा कि ऐसी स्थिति में अन्वित प्रथम पद के द्वारा जो प्रतिपत्ति (अर्थबोध) हो चुकी है, वाक्य के अन्य पदों के द्वारा मात्र उसकी पुनरुक्ति होगी, अतः पुनरोक्ति का दोष तो होगा ही। यद्यपि यहाँ अपने बचाव के लिए अन्विताभिधानवादी यह कह सकते हैं कि प्रथम पद के द्वारा जिस वाक्यार्थ का प्रधानरूप से प्रतिपादन हुआ है अन्य पद उसके सहायक के रूप में गौण रूप से उसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, अतः यहाँ पुनरोक्ति का दोष नहीं होता है। किन्तु जैनों को उनकी यह दलील मान्य नहीं है।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की यह मान्यता भी समुचित नहीं है कि पूर्वपदों के अभिधेय अर्थों से अन्वित अन्तिमपद के उच्चारण से ही वाक्यार्थ का बोध होता है। इस सम्बन्ध में जैनतार्किक प्रभाचन्द्र का कहना है कि जब सभी पद परस्पर अन्वित हैं तो फिर यह मानने का क्या आधार है कि केवल अन्तिम पद के अन्वित अर्थ की प्रतिपत्ति से ही वाक्यार्थ का बोध होता है और अन्य पदों के अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है।

प्रभाकर अपने अन्विताभिधानवाद के पक्ष में यह तर्क भी दे सकते हैं कि उच्चार्यमान पद का अर्थ अभिधीयमान पद (जाने गये पूर्ववर्ती पद) से अन्वित न होकर गम्यमान अर्थात् पदान्तरों से गोचरीकृत पद (ज्ञात होनेवाले उत्तर वर्ती पद) से अन्वित होता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक पूर्व-पद अपने उत्तरपद से अन्वित होता है! अतः किसी एक पद से ही वाक्यार्थ का बोध होना सम्भव नहीं होगा। उनकी इस अवधारणा की समालोचना में जैनों का कहना है कि प्रत्येक पूर्वपद का अर्थ केवल अपने उत्तरपद से ही अन्वित होता है, ऐसा मानना उचित नहीं है; क्योंकि अन्वय/सम्बद्धता

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड ३।१०।१ पृ० ४५९-४६४।

सापेक्ष होती है अतः उत्तरपद भी पूर्वपद से अन्वित होगा। इसलिए केवल अन्तिम पद से ही वाक्यार्थ का बोध मानना स्वयं अन्विताभिधानवाद को दृष्टि से भी तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में मीमांसक प्रभाकर कह सकते हैं कि पदों के दो कार्य होते हैं प्रथम—अपने अर्थ का कथन करना और दूसरा—पदान्तर के अर्थ में गमक व्यापार अर्थात् उनका स्मरण कराना। अतः अन्विताभिधानवाद मानने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए। किन्तु जैनों की दृष्टि में उनका यह मानना भी तर्क संगत नहीं है, क्योंकि पद-व्यापार से समान अर्थ-बोध होने पर भी किसी को अभिधीयमान और किसी को गम्यमान मानना उचित नहीं है।

पुनः प्रभाकर की ओर से यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि बुद्धिमान व्यक्ति पद का प्रयोग पद के अर्थ-बोध के लिए करते हैं या वाक्यार्थ बोध के लिए? पद के अर्थ-बोध के लिए तो कर नहीं सकते क्योंकि पद प्रवृत्ति का हेतु नहीं है। यदि दूसरा विकल्प माना जाये कि 'पद का प्रयोग वाक्य के अर्थबोध के लिये करते हैं'—तो इससे उनका अन्विताभिधानवाद ही सिद्ध होगा। इसके प्रत्युत्तर में जैनचार्य प्रभाचन्द्र कहते हैं कि प्रथम तो 'वृक्ष' पद के प्रयोग से शाखा, पल्लव आदि से युक्त अर्थ का बोध होता है उस अर्थ-बोध से 'तिष्ठति' इत्यादि पद स्थान आदि विषय का सामर्थ्य से बोध कराते हैं। स्थान आदि के अर्थ बोध में 'वृक्ष' पद की साक्षात् प्रवृत्ति नहीं होने से उसे उस अर्थ-बोध का कारण नहीं माना जा सकता है। यदि यह माना जाये कि वृक्ष पद 'तिष्ठति' पद के अर्थ-बोध में परम्परा से अर्थात् परोक्षरूप से कारण होता है, तो यह मानना इसलिए समुचित नहीं है कि ऐसा मानने पर तो यह भी मानना होगा कि हेतु-वचन की साध्य की प्रतिपत्ति में प्रवृत्ति होने के कारण अनुमान-ज्ञान शाब्दिक-ज्ञान है, जो कि तर्कसंगत नहीं है।

पुनः मीमांसक प्रभाकर इसके प्रत्युत्तर में यदि यह कहें कि हेतु-वाचक शब्द से होने वाली हेतु की प्रतीति ही शब्द-ज्ञान है, शब्द से ज्ञात हेतु के द्वारा साध्य का जो ज्ञान होता है उसे शाब्दिक ज्ञान न मानकर अनुमान ही मानना होगा अन्यथा अतिप्रसंग दोष होगा, तो फिर जैन दार्शनिक कहेंगे कि वृक्ष शब्द से स्थानादि की प्रतीति में भी अतिप्रसंग दोष तो मानना होगा। क्योंकि जिस प्रकार हेतु शब्द का व्यापार अपने अर्थ (विषय) की प्रतीति कराने तक ही सीमित है, उसी प्रकार वृक्ष शब्द का व्यापार भी अपने अर्थ की प्रतीति कराने तक ही सीमित होगा।

जैनदार्शनिकों की अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि विशेष्यपद विशेष्य को विशेषण-सामान्य से या विशेषण-विशिष्ट से या विशेषण-उभय अर्थात् सामान्य विशेष दोनों से अन्वित करके कहेगा? प्रथम विकल्प अर्थात् विशेष्य विशेषण-सामान्य से अन्वित होता है यह मानने पर विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति सम्भव नहीं होगी, क्योंकि विशेष्य पद सामान्य-विशेषण से अन्वित होने पर विशेष वाक्यार्थ का बोध नहीं करा पावेगा। दूसरा विकल्प मानने पर निश्चयात्मकज्ञान सम्भव नहीं होगा; क्योंकि (मीमांसकों के अनुसार) शब्द से जिसका निर्देश किया गया है, ऐसे प्रतिनियत विशेषण से अपने उक्त विशेष्य का अन्वय करने में संशय उत्पन्न होगा। क्योंकि विशेष्य में दूसरे अनेक विशेषण भी सम्भव है, अतः यह विशेष्य अमुक विशेषण से ही अन्वित है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकेगा। यदि पूर्वपक्ष अर्थात् मीमांसक प्रभाकर की ओर से यह कहा जाये कि वक्ता के अभिप्राय से प्रतिनियत विशेषण का उस विशेष्य में अन्वय ही जाता है तो यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि जिस पुरुष के प्रति शब्द का उच्चारण किया गया है उसे तो वक्ता का

अभिप्राय ज्ञात नहीं होता है, अतः विशेष्य के बारे में विशेषण का निर्णय सम्भव नहीं होगा। यदि यह कहा जाये कि वक्ता को तो अपने अभिप्राय का बोध होता ही है अतः वह तो प्रतिनियत विशेषण का निश्चय कर ही लेगा। किन्तु ऐसा मानने पर शाब्दिक-कथन करना अनावश्यक होगा क्योंकि शब्द का कथन दूसरों को अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिए होता है, स्वयं अपने लिये नहीं। तीसरा विकल्प अर्थात् विशेष्यपद विशेष्य को उभय अर्थात् विशेषण-सामान्य और विशेषण-विशेष दोनों से अन्वित कहता है, मानने पर उभयपक्ष के दोष आवेंगे अर्थात् न तो विशिष्ट वाक्यार्थ का बोध होगा और न निश्चयात्मक ज्ञान होगा।

इसी प्रकार की आपत्तियाँ विशेष्य को क्रियापद (आख्यात-पद) और क्रिया-विशेषण पद से अन्वित मानने के सम्बन्ध में भी उपस्थित होगी। पुनः पूर्वपक्ष के रूप में मीमांसक प्रभाकर यदि यह कहें कि पद से पदान्तर के अर्थ का निश्चय होता है और फिर वह वाक्यार्थ का निश्चय करता है किन्तु ऐसा मानने पर तो रूपादि के ज्ञान से गंधादि का निश्चय भी मानना होगा, जो कि तर्क संगत नहीं है। अतः अन्विताभिधानवाद अर्थात् पदों से पदान्तरों के अर्थों से अन्वित अर्थ का ही कथन होता है और अन्वित पदों के अर्थ की प्रतीति से वाक्य के अर्थ की प्रतीति होती है—ऐसा प्रभाकर का मत श्रेयस्कर नहीं है।

वस्तुतः अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण हैं। जैन दार्शनिक अभिहितान्वयवाद की इस अवधारणा से सहमत हैं कि पदों (शब्दों) का वाक्य से स्वतन्त्र अपना निजी अर्थ भी होता है किन्तु साथ ही वे अन्विताभिधानवाद से सहमत होकर यह भी मानते हैं कि वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद अपना अर्थ बोध कराने के लिये अन्यपदों पर आश्रित होता है अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त पद परस्पर अन्वित या सम्बन्धित होते हैं। सम्पूर्ण वाक्य के श्रवण के पश्चात् ही हमें वाक्यार्थ का बोध होता है, उसमें पद परस्पर अन्वित या सापेक्ष ही होते हैं, निरपेक्ष नहीं है; क्योंकि निरपेक्ष पदों से वाक्य की रचना ही सम्भव नहीं होती है। जिस प्रकार शब्द अपने अर्थबोध के लिए वर्ण-सापेक्ष होते हैं, उसी प्रकार पद अपने अर्थबोध के लिये वाक्य सापेक्ष होते हैं। जैनाचार्यों के अनुसार परस्पर सापेक्ष पदों का निरपेक्ष समूह वाक्य है। अतः वाक्यार्थ का बोध पद-सापेक्ष और पद के अर्थ का बोध वाक्य-सापेक्ष है।

यद्यपि इस समग्र विवाद के मूल में दो भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ कार्य कर रही हैं। अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्य पद सापेक्ष होता है, वे वाक्य में पदों की सत्ता को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। पद ही वह इकाई है, जिस पर वाक्यार्थ निर्भर करता है। जबकि अन्विताभिधानवाद में पदों का अर्थ वाक्य सापेक्ष है, वाक्य से स्वतन्त्र वे न तो पदों की कोई सत्ता ही मानते हैं और न उनका कोई अर्थ ही है। वे वाक्य को ही एक इकाई मानते हैं। अभिहितान्वयवाद में पद मुख्य और वाक्य गौण है जबकि अन्विताभिधानवाद में वाक्य मुख्य और पद गौण है, यही दोनों का मुख्य अन्तर है जबकि जैन दार्शनिक पद और वाक्य दोनों को परस्पर सापेक्ष और वाक्यार्थ के बोध में समान रूप से बलशाली एवं आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार वे इन दोनों मतों में समन्वय स्थापित करते हुए कहते हैं कि वाक्यार्थ के बोध में पद और वाक्य दोनों की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अतः किसी एक पर अधिक बल देना समोचीन नहीं है। पद और वाक्य न तो एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं और न पूर्णतः अभिन्न हैं अतः वाक्यार्थ-बोध में किसी की भी उपेक्षा सम्भव नहीं है।



वाच्यार्थ-निर्धारण के सिद्धान्त; नय और निक्षेप

शब्द का वाच्यार्थ और नय

शब्द अथवा कथन के सही अर्थ को समझने के लिए यह आवश्यक है कि श्रोता न केवल वक्ता के शब्दों की ओर जाये, अपितु उसके अभिप्राय को भी समझने का प्रयत्न करे। अनेक बार समान पदावली के वाक्य भी वक्ता के अभिप्राय, वक्ता की कथनशैली और तात्कालिक सन्दर्भ के आधार पर भिन्न अर्थ के सूचक हो जाते हैं। वक्ता के अभिप्राय को समझने के लिए जैन आचार्यों ने नय और निक्षेप ऐसे दो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। नय और निक्षेप के सिद्धान्तों का मूलभूत उद्देश्य यही है कि श्रोता वक्ता के द्वारा कहे गये शब्दों अथवा कथनों का सही अर्थ जान सके। नय की परिभाषा करते हुए जैन आचार्यों ने कहा है कि 'वक्ता का अभिप्राय' ही नय कहा जाता है।^१ कथन के सम्यक् अर्थ निर्धारण के लिए वक्ता के अभिप्राय को एवं तात्कालिक सन्दर्भ को ध्यान में रखना आवश्यक है। नय सिद्धान्त हमें वह पद्धति बताता है जिसके आधार पर वक्ता के आशय एवं कथन के तात्कालिक सन्दर्भ (Context) को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। जैन दर्शन में नय और निक्षेप की अवधारणाएँ स्याद्वाद और सप्तभंगी के विकास के भी पूर्व की है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में हमें नय एवं निक्षेप ही अवधारणाएँ स्पष्ट रूप में उपलब्ध हो जाती हैं, सूत्र जबकि वहाँ स्याद्वाद और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा अनुपस्थित है। तत्त्वार्थ के पाँचवें अध्याय का 'अर्पितानार्पिते सिद्धे' सूत्र भी मूलतः नय अर्थात् सामान्य एवं विशेष दृष्टि का ही सूचक है। आगमिक विभज्यवाद एवं दार्शनिक नयवाद की अवधारणा के आधार पर ही आगे स्याद्वाद और सप्तभंगी का विकास हुआ है। यदि हम गम्भीरतापूर्वक देखें तो जैनों के नय, निक्षेप, स्याद्वाद और सप्तभंगी—इन सभी सिद्धान्तों का सम्बन्ध भाषा-दर्शन एवं अर्थ-विज्ञान (Science of meaning) से है।

नयों की अवधारणा को लेकर जैनाचार्यों ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वक्ता का अभिप्राय अथवा वक्ता की अभिव्यक्ति शैली ही नय है तो फिर नयों के कितने प्रकार होंगे? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि जितने वचन-पथ (कथन करने की शैलियाँ) हो सकती हैं, उतने ही नयवाद हो सकते हैं।^२ वस्तुतः नयवाद भाषा के अर्थ-विश्लेषण का सिद्धान्त है। भाषायी अभिव्यक्ति के जितने प्रारूप हो सकते हैं उतने ही नय हो सकते हैं, फिर भी मोटे रूप से जैन दर्शन में सप्त नयों की अवधारणा मिलती है। यद्यपि इन सात नयों के अतिरिक्त निश्चय नय और व्यवहार-नय तथा द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय का भी उल्लेख जैन ग्रन्थों में है किन्तु ये नय मूलतः

१. (अ) वक्तुरभिप्रायः नयः ।—स्याद्वादमञ्जरी पृ० २४३ ।

(ब) नयोज्ञानुरभिप्रायः ।—लघोयस्त्रयी श्लोक ५५ ।

२. जावइया वयणपहा । तावइया होंति नयवाया—सन्मतितर्क ३।४७ ।

तत्त्वमीमांसा या अध्यात्मशास्त्र से सम्बन्धित है। जबकि नैगम आदि सप्त नय मूलतः भाषा-दर्शन से सम्बन्धित है।

नय एवं निक्षेप दोनों ही सिद्धान्त यद्यपि शब्द के वाच्यार्थ (Meaning) निर्णय करने से सम्बन्धित है, फिर भी दोनों में अन्तर है। निक्षेप मूलतः शब्द के अर्थ का निश्चय करता है, जबकि नय वाक्य के अर्थ का निश्चय करता है। सप्तनयों में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—इन चार नयों को अर्थ-नय और शब्द, समभिरूढ और एवंभूत—इन तीन नयों को शब्दनय कहा गया है।^१ अर्थनय का सम्बन्ध वाच्य-विषय (वस्तु) से और शब्दनय का सम्बन्ध वाच्यार्थ (Meaning) से माना जा सकता है।

नैगमनय—इन सप्त नयों में सर्वप्रथम नैगमनय आता है। नैगमनय मात्र वक्ता के संकल्प को ग्रहण करता है।^२ नैगमनय की दृष्टि से किसी कथन के अर्थ का निश्चय उस संकल्प अथवा साध्य के आधार पर किया जाता है जिससे वह कथन किया गया है। नैगमनय सम्बन्धी प्रकथनों में वक्ता की दृष्टि सम्पादित की जानेवाली क्रिया के अन्तिम साध्य की ओर होती है। वह कर्म के तात्कालिक पक्ष की ओर ध्यान न देकर कर्म के प्रयोजन की ओर ध्यान देती है। प्राचीन आचार्यों ने नैगमनय का उदाहरण देते हुए बताया है कि जब कोई व्यक्ति स्तम्भ के लिए किसी जंगल से लकड़ी लेने जाता है और उससे पूछा जाता है कि भाई तुम किसलिए जंगल जा रहे हो? तो वह कहता है मैं स्तम्भ लेने जा रहा हूँ। वस्तुतः वह जंगल से स्तम्भ नहीं अपितु लकड़ी ही लाता है। लेकिन उसका संकल्प या प्रयोजन स्तम्भ बनाना ही है। अतः वह अपने प्रयोजन को सामने रखकर ही कथन करता है। हमारी व्यावहारिक भाषा में ऐसे अनेक कथन होते हैं जब हम अपने भावी संकल्प के आधार पर ही वर्तमान व्यवहार का प्रतिपादन करते हैं। डाक्टरी में पढ़ने वाले विद्यार्थी को उसके भावी लक्ष्य की दृष्टि से डाक्टर कहा जाता है। नैगमनय के कथनों का वाच्यार्थ भविष्य-कालीन साध्य या संकल्प के आधार पर निश्चित होता है। औपचारिक कथनों का अर्थ-निश्चय भी नैगमनय के आधार पर होता है। जैसे—प्रत्येक भाद्रकृष्णा अष्टमी को कृष्णजन्माष्टमी कहना। यहाँ वर्तमान में भूतकालीन घटना का उपचार है।

संग्रहनय—भाषा के क्षेत्र में अनेक बार हमारे कथन व्यष्टि को गौण कर समष्टि के आधार पर होते हैं। जैन आचार्यों के अनुसार जब विशेष या भेदों की उपेक्षा करके मात्र सामान्य लक्षणों या अभेद के आधार पर जब कोई कथन किया जाता है तो वह संग्रहनय का कथन माना जाता है।^३ उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति यह कहे कि 'भारतीय गरीब हैं', तो उसका यह कथन व्यक्तियों पर लागू न होकर सामान्यरूप से भारतीय जनसमाज का वाचक होता है। प्रज्ञापनासूत्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि जाति प्रज्ञापनीय भाषा सत्य मानी जाय अथवा असत्य। जाति प्रज्ञापनीय भाषा में समग्र जाति के सम्बन्ध में गुण, स्वभाव आदि का प्रतिपादन होता है, किन्तु ऐसे कथनों में अपवाद की सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता। अतः यह प्रश्न भी उठ सकता है कि यदि उस कथन के अपवाद उपस्थित हैं तो उसे सत्य किस आधार पर कहा जाय। उदाहरण

१. चत्वारोऽर्थाश्रयाः शेषास्त्रयं शब्दतः ।—सिद्धिविनिश्चय ७२ ।

२. संकल्पमात्रग्राही नैगम ।—सर्वार्थसिद्धि १।३३ ।

३. सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रह ।—जैनतर्कभाषा नयपरिच्छेद पृ० ६० ।

के लिए यदि कोई कहे कि स्त्रियाँ भीरु होती हैं तो यह कथन सामान्य स्त्री जाति के सम्बन्ध में तो सत्य माना जा सकता है किन्तु किसी स्त्री विशेष के सम्बन्ध में यह सत्य हो, आवश्यक नहीं। अतः संग्रह नय के आधार पर किये गए कथन जैसे—भारतीय गरीब हैं अथवा स्त्रियाँ भीरु होती हैं समष्टि के सम्बन्ध में ही सत्य हो सकते हैं, उन्हें उस जाति के प्रत्येक सदस्य के बारे में सत्य नहीं कहा जा सकता है। यदि कोई इन आधार वाक्यों से कि सभी भारतीय गरीब हैं और बिड़ला भारतीय है; यह निष्कर्ष निकाले कि इसलिए बिड़ला गरीब है, तो उसका यह निष्कर्ष सत्य नहीं होगा। अतः सामान्य या समष्टिगत कथनों का अर्थ समुदाय रूप से ही सत्य होता है। वह समष्टि या जाति के पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के सम्बन्ध में सत्य भी हो सकता है और असत्य भी हो सकता है। संग्रहनय हमें यही संकेत करता है कि समष्टिगत कथनों के तात्पर्य को समष्टि के सन्दर्भ में ही समझने का ही प्रयत्न करना चाहिए और उसके आधार पर उस समष्टि के प्रत्येक सदस्य के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए।

व्यवहारनय—व्यवहारनय को हम उपयोगितावादी दृष्टि कह सकते हैं। वैसे जैन आचार्यों ने इसे व्यक्ति प्रधान दृष्टिकोण भी कहा है।^१ अर्थ प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह नय हमें यह बताता है कि कुछ व्यक्तियों के सन्दर्भ में निकाले गए निष्कर्षों एवं कथनों को समष्टि के अर्थ में सत्य नहीं माना जाना चाहिए। साथ ही व्यवहार नय कथन के शब्दार्थ पर न जाकर वक्ता की भावना या लोकपरम्परा (अभिसमय) को प्रमुखता देता है।^२ व्यवहार भाषा के अनेक उदाहरण पूर्व में दिये जा चुके हैं। हम कहते हैं कि घी के घड़े में लड्डू रखे हैं यहाँ घी के घड़े का अर्थ ठीक वैसा नहीं है जैसा कि मिट्टी के घड़े का अर्थ है। यहाँ घी के घड़े का तात्पर्य वह घड़ा है जिसमें पहले घी रखा जाता था।

ऋजुसूत्रनय—ऋजुसूत्रनय को मुख्यतः पर्यायार्थिक दृष्टिकोण का प्रतिपादक कहा जाता है और उसे बौद्ध दर्शन का समर्थक बताया जाता है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान स्थितियों को दृष्टि में रख कर कोई प्रकथन करता है।^३ उदाहरण के लिए 'भारतीय व्यापारी प्रामाणिक नहीं हैं'—यह कथन केवल वर्तमान सन्दर्भ में ही सत्य हो सकता है। इस कथन के आधार पर हम भूतकालीन और भविष्यकालीन भारतीय व्यापारियों के चरित्र का निर्धारण नहीं कर सकते। ऋजुसूत्रनय हमें यह बताता है कि उसके आधार पर कथित कोई भी वाक्य अपने तात्कालिक सन्दर्भ में सत्य होता है, अन्य कालिक सन्दर्भों में नहीं। जो वाक्य जिस कालिक सन्दर्भ में कहा गया है, उसके वाक्यार्थ का निश्चय उसी कालिक सन्दर्भ में होना चाहिए।

शब्द नय—नय सिद्धान्त के उपर्युक्त चार नय मुख्यतः शब्द के वाच्य-विषय (अर्थ) से सम्बन्धित है, जब कि शेष तीन नयों का सम्बन्ध शब्द के वाच्यार्थ (Meaning) से है। शब्दनय यह बताता है शब्दों का वाच्यार्थ उनकी क्रिया या विभक्ति के आधार पर भिन्न-भिन्न हो सकता है।^४

१. संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः।

—जैनतर्कभाषा नयपरिच्छेद पृ० ६१।

२. लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहार—तत्त्वार्थ भाष्य १।३५।

३. वर्तमानक्षणस्थायिपर्यायिमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्निप्राय ऋजुसूत्रः।—जैनतर्कभाषा, नयपरिच्छेद पृ० ६१।

४. कालादिभेदेन ध्वनेरर्थ भेदं प्रतिपाद्यमानः शब्दः। कालकारकलिग सङ्ख्यापुरुषोपसर्गाः कालादयः।

—जैनतर्कभाषा नयपरिच्छेद पृ० ६१।

उदाहरण के लिए 'बनारस भारत का प्रसिद्ध नगर था' और 'बनारस भारत का प्रसिद्ध नगर है' इन दोनों वाक्यों में बनारस शब्द का वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न है। एक भूतकालीन बनारस की बात कहता है तो दूसरा वर्तमान कालीन। इसी प्रकार 'कृष्ण ने मारा' और 'कृष्ण को मारा' इन दोनों शब्दों में कृष्ण का वाच्यार्थ एक नहीं है। 'कृष्ण ने मारा'—इसमें कृष्ण का वाच्यार्थ कृष्ण नामक वह व्यक्ति है जिसने किसी को मारने की क्रिया सम्पन्न की है। जबकि 'कृष्ण को मारा'—इसमें कृष्ण का वाच्यार्थ वह व्यक्ति है जो किसी के द्वारा मारा गया है। शब्दनय हमें यह बताता है कि शब्द का वाच्यार्थ कारक, लिंग, उपसर्ग, विभक्ति, क्रिया-पद आदि के आधार पर बदल जाता है।

समभिरूढ़नय—भाषा की दृष्टि से समभिरूढ़नय यह स्पष्ट करता है कि अभिसमय या रूढ़ि के आधार पर एक ही वस्तु के पर्यायवाची शब्द यथा—नृप, भूपति, भूपाल, राजा आदि अपने व्युत्पत्त्यार्थ की दृष्टि से भिन्न-भिन्न अर्थ के सूचक हैं। जो मनुष्यों का पालन करता है, वह नृप कहा जाता है। जो भूमि का स्वामी होता है, वह भूपति होता है। जो शोभायमान होता है वह राजा कहा जाता है। इस प्रकार पर्यायवाची शब्द अपना अलग-अलग वाच्यार्थ रखते हुए भो अभिसमय या रूढ़ि के आधार पर एक ही वस्तु के वाचक मान लिये जाते हैं, किन्तु यह नय पर्यायवाची शब्दों यथा—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर में व्युत्पत्ति की दृष्टि से अर्थ-भेद मानता है।

एवंभूतनय—एवंभूतनय शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण मात्र उसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ के आधार पर करता है।^१ उदाहरण के लिए कोई राजा जिस समय शोभायमान हो रहा है उसी समय राजा कहा जा सकता है। एक अध्यापक उसी समय अध्यापक कहा जा सकता है जब वह अध्यापन का कार्य करता है। यद्यपि व्यवहार जगत् में इससे भिन्न प्रकार के ही शब्द प्रयोग किये जाते हैं। जो व्यक्ति किसी समय अध्यापन करता था अपने बाद के जीवन में वह चाहे कोई भी पेशा अपना ले 'मास्टर जी' के ही नाम से जाना जाता है। इस नय के अनुसार जातिवाचक, व्यक्तिवाचक गुणवाचक, संयोगी-द्रव्य-शब्द आदि सभी शब्द मूलतः क्रियावाचक हैं^२। शब्द का वाच्यार्थ क्रिया शक्ति का सूचक है। अतः शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण उसकी क्रिया के आधार पर करना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार्यों का नय-सिद्धान्त यह प्रयास करता है कि पर वाक्य प्रारूपों के आधार कथनों का श्रोता के द्वारा सम्यक् अर्थ ग्रहण किया जाय। वह यह बताता है कि किसी शब्द अथवा वाक्य का अभिप्रेत अर्थ क्या होगा। यह बात उस कथन के प्रारूप पर निर्भर करती है जिसके आधार पर वह कथन किया गया है। नय-सिद्धान्त यह भी बतलाता है कि कथन के वाच्यार्थ का निर्धारण भाषायी संरचना एवं वक्ता की अभिव्यक्ति शैली पर आधारित है और इसीलिए यह कहा गया है कि जितने वचन पथ हैं उतने ही नयवाद हैं। नय-सिद्धान्त शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण ऐकान्तिक दृष्टि से न करके उस समग्र परिप्रेक्ष्य में करता है जिसमें वह कहा गया है।

१. पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः। —जैनतर्कभाषा, नयपरिच्छेद पृ० ६२

२. शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः।

—जैनतर्कभाषा नयपरिच्छेद पृ० ६२

निक्षेप सिद्धान्त

जैन दर्शन में शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण करने के लिए दो प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं—१. नय-सिद्धान्त और २. निक्षेप-सिद्धान्त ।

नय की चर्चा हम कर चुके हैं, अब निक्षेप की चर्चा करेंगे । निक्षेप के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय यशोविजय जी कहते हैं कि जिससे प्रकरण (सन्दर्भ) आदि के अनुसार अप्रतिपत्ति आदि का निराकरण होकर शब्द के वाच्यार्थ का यथास्थान विनियोग होता है, ऐसी रचना विशेष को निक्षेप कहते हैं।^१ लघीयस्त्रयी में भी निक्षेप की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि निक्षेप के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ का निषेध और प्रस्तुत अर्थ का निरूपण होता है।^२ वस्तुतः शब्द का प्रयोग वक्ता ने किस अर्थ में किया है इसका निर्धारण करना ही निक्षेप का कार्य है । हम 'राजा' नामधारी व्यक्ति, नाटक में राजा का अभिनय करने वाले व्यक्ति, भूतपूर्व शासक और वर्तमान में राज्य के स्वामी सभी को 'राजा' कहते हैं। इसी प्रकार गाय नामक प्राणी को भी गाय कहते हैं और उसकी आकृति के बने हुए खिलौने को भी गाय कहते हैं । अतः किस प्रसंग में शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है इसका निर्धारण करना आवश्यक है । निक्षेप हमें इस अर्थ निर्धारण का प्रक्रिया को समझाता है । पं० सुखलाल जी संघवी अपने तत्त्वार्थ सूत्र के विवेचन में लिखते हैं कि "समस्त व्यवहार या ज्ञान के लेन-देन का मुख्य साधन भाषा है । भाषा शब्दों से बनती है । एक ही शब्द प्रयोजन या प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है । प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ मिलते हैं । वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थ-सामान्य के चार विभाग हैं । ये विभाग ही निक्षेप या न्यास कहलाते हैं । इनको जान लेने से वक्ता का तात्पर्य समझने में सरलता होती है"।^३

जैन आचार्यों ने चार प्रकार के निक्षेपों का उल्लेख किया है—१. नाम २. स्थापना ३. द्रव्य और ४. भाव ।

नामनिक्षेप—व्युत्पत्तिसिद्ध एवं प्रकृत अर्थ की अपेक्षा न रखने वाला जो अर्थ माता-पिता या अन्य व्यक्तियों के द्वारा किसी वस्तु को दे दिया जाता वह नामनिक्षेप है । नामनिक्षेप में न तो शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ का विचार किया जाता है, न उसके लोक प्रचलित अर्थ का विचार किया जाता है, और न उस नाम के अनुरूप गुणों का ही विचार किया जाता है, अपितु मात्र किसी व्यक्ति या वस्तु को संकेतित करने के लिए उसका एक नाम रख दिया जाता है।^४ उदाहरण के रूप में कुरूप व्यक्ति का नाम सुन्दरलाल रख दिया जाता । नाम देते समय अन्य अर्थों में प्रचलित शब्दों, जैसे सरस्वती, नारायण, विष्णु, इन्द्र, रवि आदि अथवा अन्य अर्थों में अप्रचलित शब्दों जैसे—डित्थ, रिंकू, पिंकू, मोनु, टोनु आदि से किसी व्यक्ति का नामकरण कर देते हैं और

१. प्रकरणादिदिक्षोनाप्रतिपत्त्यादि व्यञ्जच्छेदकयथास्थान विनियोगाय शब्दार्थ रचना विशेषा निक्षेपाः ।

—जैनतर्कभाषा, निक्षेप परिच्छेद पृ० ६३

२. अप्रस्तुतार्थापकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निःक्षेप फलवान्

—लघीयस्त्रयी ७।२

३. तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन पं० सुखलाल जी संघवी) पृ० ६

४. नामस्थापनाद्रव्यभावतन्त्यासः ।

—तत्त्वार्थसूत्र १।५

५. तत्रप्रकृतार्थनिरपेक्षा नामर्थान्यतर परिणतिर्नामनिःक्षेपः ।

—जैनतर्कभाषा, निक्षेप परिच्छेद पृ० ६८

उस शब्द को सुनकर उस व्यक्ति या वस्तु में संकेत ग्रहण होता है। नाम किसी वस्तु या व्यक्ति को दिया गया वह शब्द संकेत है—जिसका अपने प्रचलित अर्थ, व्युत्पत्तिपरक अर्थ और गुण निष्पन्न अर्थ से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि नामनिक्षेप में कोई भी शब्द पर्यायवाची नहीं माना जा सकता है क्योंकि उसमें एक शब्द से एक ही अर्थ का ग्रहण होता है।

स्थापनानिक्षेप—किसी वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र में उस मूलभूत वस्तु का आरोपण कर उसे उस नाम से अभिहित करना स्थापना निक्षेप है। जैसे जिन-प्रतिमा को जिन, बुद्ध-प्रतिमा को बुद्ध और कृष्ण की प्रतिमा को कृष्ण कहना। नाटक के पात्र, प्रतिकृतियाँ, मूर्तियाँ, चित्र—ये सब स्थापनानिक्षेप के उदाहरण हैं। जैन आचार्यों ने इस स्थापनानिक्षेप के दो प्रकार माने हैं—

१. तदाकार स्थापनानिक्षेप और २. अतदाकार स्थापनानिक्षेप।

वस्तु की आकृति के अनुरूप आकृति में उस मूल वस्तु का आरोपण करना यह तदाकार स्थापनानिक्षेप है। उदाहरण के रूप में गाय की आकृति के खिलौने को गाय कहना। जो वस्तु अपनी मूलभूत वस्तु की प्रतिकृति तो नहीं है किन्तु उसमें उसका आरोपण कर उसे जब उस नाम से पुकारा जाता है तो वह अतदाकार स्थापनानिक्षेप है। जैसे हम किसी अनगढ़ प्रस्तर खण्ड को किसी देवता का प्रतीक मानकर अथवा शतरंज की मोहरों को राजा, वजीर आदि के रूप में परिकल्पित कर उन्हें उस नाम से पुकारते हैं।^१

द्रव्यनिक्षेप—जो अर्थ या वस्तु पूर्व में किसी पर्याय, अवस्था या स्थिति में रह चुकी हो अथवा भविष्य में किसी पर्याय अवस्था या स्थिति में रहने वाली हो उसे वर्तमान में भी उसी नाम से संकेतित करना—यह द्रव्य निक्षेप है। जैसे कोई व्यक्ति पहले कभी अध्यापक था, किन्तु वर्तमान में सेवानिवृत्त हो चुका है उसे वर्तमान में भी 'अध्यापक' कहना अथवा उस विद्यार्थी को जो अभी डाक्टरी का अध्ययन कर रहा है—'डाक्टर' कहना अथवा किसी भूतपूर्व विधायक को तथा वर्तमान में विधायक का चुनाव लड़ रहे व्यक्ति को विधायक कहना—ये सभी द्रव्य निक्षेप के उदाहरण हैं। लोकव्यवहार में हम इस प्रकार की भाषा के अनेकशः प्रयोग करते हैं, यथा—वह घड़ा जिसमें कभी घी रखा जाता था वर्तमान काल में चाहे वह घी रखने के उपयोग में न आता हो फिर भी घी का घड़ा कहा जाता है।^२

भावनिक्षेप—जिस अर्थ में शब्द का व्युत्पत्ति या प्रवृत्ति निमित्त सम्यक् प्रकार से घटित होता हो वह भावनिक्षेप है, जैसे—किसी धनाढ्य व्यक्ति को लक्ष्मीपति कहना, सेवाकार्य कर रहे व्यक्ति को सेवक कहना आदि।^३

१. यत्तु वस्तु तदर्थं वियुक्तं तदभिप्रायेण स्थाप्यते चित्रादौ तादृशाकारम्/अक्षादौ च निराकारम्।

—जैनतर्कभाषा, निक्षेप परिच्छेद पृ० ६३

२. भूतस्य भावनो वा भावस्य कारणं यन्निक्षिप्यते स द्रव्यनिक्षेपः; यथाऽनुभूतेन्द्रपर्यायोऽनुभविष्यमाणेन्द्र पर्यायो वा इन्द्रः, अनुभूताघृताधारत्वपर्यायेऽनुभविष्यमाणघृताधारत्वपर्याये च घृत घटव्यपदेशवत् तेन्द्रशब्द व्यपदेशोपपत्तेः।

—जैनतर्कभाषा, निक्षेप परिच्छेद पृ० ६४

३. तत्त्वार्थसूत्र—विवेकक पं० सुखलाल जी पृ० ७।

वक्ता के अभिप्राय अथवा प्रसंग के अनुरूप शब्द के वाच्यार्थ को ग्रहण करने के लिए निक्षेपों की अवधारणा का बोध होना आवश्यक है। उदाहरण के रूप में किसी छात्र को कक्षा में प्रवेश करते समय कहा गया 'राजा आया' इस कथन का वाच्यार्थ किसी नाटक में मञ्च पर किसी पात्र को आते हुए देखकर कहा गया 'राजा आया' इस कथन के वाच्यार्थ से भिन्न है। प्रथम प्रसंग में "राजा" शब्द का वाच्यार्थ है—राजा नामधारी छात्र है; जबकि दूसरे प्रसंग में राजा शब्द का वाच्यार्थ है—राजा का अभिनय करने वाला पात्र। आज भी हम 'महाराजा-बनारस' और 'महाराजा ग्वालियर' शब्दों का प्रयोग करते हैं किन्तु आज इन शब्दों का वाच्यार्थ वह नहीं है जो सन् १९४७ के पूर्व था। वर्तमान में इन शब्दों का वाच्यार्थ द्रव्य निक्षेप के आधार पर निर्धारित होगा, जबकि सन् १९४७ के पूर्व वह भावनिक्षेप के आधार पर निर्धारित होता था। 'राजा' शब्द कभी राजा नामधारी व्यक्ति का वाचक होता है तो कभी राजा का अभिनय करने वाले पात्र का वाचक होता है। कभी वह भूतकालीन राजा का वाचक होता है तो कभी वह वर्तमान में शासन करने वाले व्यक्ति का वाचक होता है। निक्षेप का सिद्धान्त हमें यह बताता है कि हमें किसी शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण उसके कथन-प्रसंग के अनुरूप ही करना चाहिए अन्यथा अर्थबोध में अनर्थ होने की संभावना बनी रहेगी। निक्षेप का सिद्धान्त शब्द के वाच्यार्थ के सम्यक् निर्धारण का सिद्धान्त है, जो कि जैन दार्शनिकों की अपनी एक विशेषता है।



भाषा की वाच्यता सामर्थ्य

भाषा की वाच्यता सामर्थ्य सीमित और सापेक्ष

यहाँ दार्शनिक प्रश्न यह है कि क्या शब्द-प्रतीकों या भाषा में अपने विषय या अर्थ को अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य है? क्या कुर्सी शब्द कुर्सी नामक वस्तु को और प्रेम शब्द प्रेम नामक भावना को अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत कर सकता है? यह ठीक है कि शब्द अपने अर्थ (विषय) का वाचक अथवा संकेतक है किन्तु क्या कोई भी शब्द अपने वाच्य विषय की पूर्णतया अभिव्यक्ति करने में सक्षम है? क्या शब्द अपने विषय के समस्त गुण-धर्मों और पर्यायों (अवस्थाओं) एक समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर कठिन है। यदि हम यह मानते हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक नहीं है तो फिर भाषाजन्य ज्ञान की प्रामाणिकता और भाषा की उपयोगिता संदेहात्मक बन जाती हैं। किन्तु इसके विपरीत यह मानना भी पूर्णतया सही नहीं है कि शब्द अपने अर्थ या विषय का सम्पूर्णता के साथ निर्वचन करने में समर्थ है और वह अपने वाच्य का यथार्थ चित्र श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। जैसा कि हमने देखा है, जैन आचार्यों ने शब्द और उसके अर्थ (विषय) के सम्बन्ध को लेकर एक मध्यममार्गीय दृष्टिकोण अपनाया है। न तो वे बौद्धों के समान यह मानने के लिए सहमत हैं कि शब्द अपने अर्थ या विषय का संस्पर्श ही नहीं करता है और न मीमांसकों एवं वैयाकरणिकों के समान यह मानते हैं कि शब्द अपने विषय का समग्र चित्र प्रस्तुत कर सकता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द और उसके द्वारा संकेतित अर्थ या विषय में एक सम्बन्ध तो है, किन्तु वह सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि शब्द अपने विषय या अर्थ का स्थान ही ले ले। शब्द अर्थ या विषय का संकेतक तो है, किन्तु उसका स्थान नहीं ले सकता है। अर्थबोध की प्रक्रिया में शब्द को अपने अर्थ या विषय का प्रतिनिधि (रिप्रेजेन्टेटिव) तो कहा जा सकता है, फिर भी शब्द अपने विषय या अर्थ का हूबहू चित्र नहीं है। जैसे नक्शे में प्रदर्शित नदी वास्तविक नदी की संकेतक तो है किन्तु न तो वह वास्तविक नदी है और न उसका हूबहू प्रतिबिम्ब ही है, वैसे ही शब्द और उनसे निर्मित भाषा भी अपने अर्थ या विषय की संकेतक तो है किन्तु उसका हूबहू प्रतिबिम्ब नहीं है। फिर भी शब्द अपनी सहज योग्यता और संकेतक शक्ति से विषय का एक चित्र श्रोता या पाठक के सम्मुख अवश्य उपस्थित कर देता है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञापक और ज्ञाप्य सम्बन्ध है उसी प्रकार शब्द और अर्थ (विषय) में प्रतिपादक और प्रतिपाद्य या वाचक और वाच्य सम्बन्ध है। यद्यपि जैन दार्शनिक शब्द और उसके अर्थ में सम्बन्ध स्वीकार करते हैं किन्तु यह सम्बन्ध मीमांसकों के समान नित्य सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि भाषा के प्रचलन में अनेक बार शब्दों के अर्थ (विषय) बदलते रहे हैं और एक समान उच्चारण के शब्द भी दो भिन्न भाषाओं में भिन्न अर्थ रखते हैं। शब्द अपने अर्थ का संकेतक अवश्य है किन्तु अपने अर्थ के साथ उसका न तद्रूपत्ति सम्बन्ध है और न तद्रूपता सम्बन्ध है। जैन दार्शनिक मीमांसकों के समान शब्द और अर्थ में नित्य तथा तद्रूप सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते

हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार हस्त-संकेत आदि अपने अभिव्यंजनीय अर्थ के साथ अनित्य रूप से सम्बन्धित होकर इष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कर देते हैं उसी प्रकार शब्द-संकेत भी अपने अर्थ से अनित्य रूप से सम्बन्धित होकर भी अर्थबोध करा देते हैं।^१ जैनों के अनुसार शब्द और अर्थ (विषय) दोनों की विविक्त सत्ताएँ हैं। अर्थ में शब्द नहीं है और न अर्थ शब्दात्मक ही है। फिर भी दोनों में एक सम्बन्ध अवश्य है। शब्दों में अपने अर्थ के वाचक होने की सीमित सामर्थ्य है। जैन आचार्यों को बौद्धों का यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। उनका कथन है कि यदि शब्द का अपने अर्थ से कोई सम्बन्ध ही नहीं माना जायेगा तो समस्त भाषा-व्यवहार की प्रामाणिकता ही समाप्त हो जावेगी और पारस्परिक अभिव्यक्ति का कोई साधन ही नहीं रहेगा। इसीलिए जैन दार्शनिकों ने शब्द और अर्थ में सापेक्ष एवं सीमित वाच्य-वाचक सम्बन्ध माना है। शब्द अपने विषय का वाचक तो होता है किन्तु उसकी समस्त विशेषताओं का सम्पूर्णता के साथ निर्वचन करने में समर्थ नहीं है। शब्दों में अर्थ (विषय) की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य तो है किन्तु वह सामर्थ्य सीमित और सापेक्ष ही है, असीमित या पूर्ण और निरपेक्ष नहीं। 'प्रेम' शब्द प्रेम नामक भावना को अभिव्यक्त तो करता है किन्तु उसमें प्रेम की अनुभूति की सभी गहराईयाँ समाविष्ट नहीं हैं। प्रेम के विविध रूप हैं। प्रेम-अनुभूति की प्रगाढ़ता के अनेक स्तर हैं। अकेला प्रेम शब्द उन सबका वाचक तो नहीं हो सकता। एक प्रेमी अपनी प्रेयसी से, एक पुत्र अपनी माता से, एक भाई अपने भाई से और एक मित्र अपने मित्र से—'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ'—इस पदावली का कथन करता है किन्तु क्या उन सभी व्यक्तियों के सन्दर्भ में इस पदावली का एक ही अर्थ होगा? वस्तुतः वे सब समान पदावली का उपयोग करते हुए भी जिस भावप्रवणता को अभिव्यक्त कर रहे हैं वह भिन्न-भिन्न ही है। दो भिन्न सन्दर्भों में और दो भिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही सन्दर्भ में एक शब्द का एक ही अर्थ नहीं हो सकता है। मात्र यही नहीं, एक ही पदावली के सन्दर्भ में वक्ता और श्रोता दोनों की भावप्रवणता और अर्थ ग्राहकता भिन्न-भिन्न भी हो सकती है। हम अनेक सन्दर्भों में दूसरों के कथनों को अन्यथा ग्रहण कर लेते हैं। अर्थ-बोध न केवल शब्द सामर्थ्य पर निर्भर है, अपितु श्रोता की योग्यता पर भी निर्भर है। वस्तुतः अर्थबोध के लिए पहले शब्द और उसके अर्थ (विषय) में एक सम्बन्ध जोड़ लिया जाता है। बालक को जब भाषा सिखाई जाती है तो शब्द के उच्चारण के साथ उसे वस्तु भी दिखाते हैं। धीरे-धीरे बालक उनमें सम्बन्ध जोड़ लेता है और जब भी उस शब्द को सुनता है या पढ़ता है तो उसे उस अर्थ (वाच्य-विषय) का बोध हो जाता है, अतः अपने विषय का अर्थबोध करा देने की शक्ति भी मात्र शब्द में नहीं है, अपितु श्रोता या पाठक के पूर्व संस्कारों में रही हुई है। वह श्रोता या पाठक की योग्यता पर भी निर्भर होती है। यही कारण है कि अनसीखी भाषा के शब्द हमें कोई अर्थबोध नहीं दे पाते हैं। इसीलिये जैन दार्शनिक मीमांसा-दर्शन के शब्द में स्वतः अर्थबोध की सामर्थ्य का खण्डन करते हैं। अनेक प्रसंगों में वक्ता का आशय कुछ और होता है और श्रोता उसे कुछ और समझ लेता है, अतः यह मानना होगा कि शब्द और अर्थ में वाचक वाच्य सम्बन्ध होते हुए भी वह सम्बन्ध श्रोता या पाठक सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। अन्यथा दो व्यक्तियों के द्वारा एक ही पदावली का भिन्न-भिन्न रूप में ग्रहण करना कभी सम्भव ही नहीं होता।

१. जैनदर्शन, डॉ महेंद्र कुमार न्यायाचार्य—(१९७४) पृ० २७३।

दूसरे शब्द की अपने विषय की वाच्यता-सामर्थ्य भी सीमित ही है। शब्द-शक्ति की इस सीमितता का कारण यह है कि अनुभूतियों की एवं भावनाओं की जितनी विविधताएँ हैं उतने शब्द नहीं हैं। अपने वर्ण विषयों की अपेक्षा शब्द-संख्या और शब्द-शक्ति दोनों ही सीमित हैं। उदाहरण के लिये 'मीठा' शब्द को लीजिये। हम कहते हैं कि गन्ना मीठा है, गुड़ मीठा है, आम मीठा है, रसगुल्ला मीठा है, तरबूज मीठा है आदि-आदि। यहाँ हम सभी के मीठेपन की अनुभूति के लिये एक ही शब्द 'मीठा' प्रयोग कर रहे हैं किन्तु हम यह बहुत ही स्पष्ट रूप से जानते हैं कि सबके मीठेपन का स्वाद एक समान नहीं है। तरबूज मीठा है और आम मीठा है इन दोनों कथनों में 'मीठा' नामक शब्द एक ही प्रकार की अनुभूति का द्योतक नहीं है। यद्यपि पशुओं के ध्वनि संकेतों और शारीरिक संकेतों की अपेक्षा मनुष्य के शब्द संकेतों में भावाभिव्यक्ति एवं विषयाभिव्यक्ति की सामर्थ्य काफी व्यापक है, किन्तु उसकी भी अपनी सीमायें हैं। भाषा की और शब्द-संकेत की इन सीमाओं पर दृष्टिपात करना अति आवश्यक है। क्योंकि विश्व में वस्तुओं, तथ्यों और भावनाओं की जो अनन्तता है उसकी अपेक्षा हमारा शब्द भण्डार अत्यन्त सीमित है। एक 'लाल' शब्द को ही लीजिए। वह लाल नामक रंग का वाचक है किन्तु लालिमा को अनेक कोटियाँ हैं, अनेक अंश (डिग्रीज) हैं, अनेक संयोग (काम्बिनेशन्स) हैं। क्या एक ही 'लाल' शब्द भिन्न प्रकार की लालिमाओं का वाचक हो सकता है। एक और उदाहरण लीजिए—एक व्यक्ति जिसने गुड़ के स्वाद का अनुभव किया है, उस व्यक्ति से जिसने कभी गुड़ के स्वाद का अनुभव नहीं किया है, जब यह कहता है कि गुड़ मीठा होता है, तो क्या श्रोता उससे मीठेपन को उसी अनुभूति को ग्रहण करेगा जिसे वक्ता ने अभिव्यक्त किया है। गुड़ को मीठास की एक अपनी विशिष्टता है। उस विशिष्टता का ग्रहण किसी दूसरे व्यक्ति को तब तक ठीक वैसा ही नहीं हो सकता है जब तक कि उसने स्वयं गुड़ के स्वाद की अनुभूति नहीं की हो। क्योंकि शब्द सामान्य होता है सत्ता विशेष होती है। सामान्य-शब्द विशेष-वस्तु का संकेतक हो सकता है, लेकिन उसका समग्र निर्वचन नहीं कर सकता है। शब्द अपने अर्थ (विषय) को मात्र सूचित करता है। शब्द और उसके विषय में तद्रूपता नहीं है, जैनों के अनुसार शब्द को अभिसमय या परम्परा के द्वारा अर्थ (मिनिंग) दिया जाता है। बौद्धों ने शब्द को विकल्पयोनि (विकल्पयोनयः शब्दाः) कहा है। शब्द अपने अर्थ या विषय का वाचक होते हुए भी उसमें और उसके विषय में कोई समानता नहीं है। यहाँ तक कि उसे अपने विषय का सम्पूर्ण एवं यथार्थ चित्र भी नहीं कहा जा सकता। यद्यपि शब्द में पूर्व निर्धारित वाच्य-वाचक सम्बन्ध के आधार पर, अपने अर्थ (विषय) का चित्र उपस्थित करने की सामर्थ्य तो होती है, किन्तु यह सामर्थ्य सीमित एवं सापेक्ष ही है।

सत्ता की वाच्यता का प्रश्न

इस प्रकार भाषा या शब्द-संकेत अपने विषयों या अपने अर्थों के संकेतक तो अवश्य हैं किन्तु उनकी अपनी सीमायें भी हैं। इसीलिए सत्ता या वस्तु-तत्त्व किसी सीमा तक वाच्य होते हुए भी अवाच्य बना रहता है। वस्तुतः जब जीवन की सामान्य अनुभूतियों और भावनाओं को ही शब्दों एवं भाषा के द्वारा पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है तो फिर परम सत्ता के निर्वचन

१. शब्दाश्च सर्वे संख्येया एव, द्वयपर्यायाः पुनः संख्येयाऽसंख्येयानन्तभेदाः न ते सर्वे विशेषाकारेण तैर्विषयी क्रियन्ते।—राजवार्तिक १।२६।

का प्रश्न तो और भी जटिल हो जाता है। भारतीय चिन्तन में प्रारम्भ से लेकर आज तक सत्ता की वाच्यता और अवाच्यता का यह प्रश्न मानव-मस्तिष्क को झकझोरता रहता है। वस्तुतः सत्ता की अवाच्यता का कारण शब्द-भण्डार तथा शब्द-शक्ति की सीमितता और भाषा का अस्ति और नास्ति की सीमाओं से घिरा होना है। इसीलिये प्राचीन काल से ही सत्ता की अवाच्यता का स्वर मुखर होता रहा है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि वाणी वहाँ से लौट आती है अर्थात् उसे वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता।^१ इसी बात को पुष्टि केनोपनिषद् में भी की गई है।^२ कठोपनिषद् में उसे वाणी और मन से अप्राप्य कहा गया है।^३ परमसत्ता का ग्रहण वाणी और मन के द्वारा सम्भव नहीं है। माण्डूक्योपनिषद् में सत्ता को अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अवाच्य कहा गया है।^४ जैन आगम आचारांग का भी कथन है कि वह (सत्ता) ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है, वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है। तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) भी उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं है, अतः वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी भी उपमा के द्वारा उसे समझाया नहीं जा सकता अर्थात् उसको कोई उपमा नहीं दी जा सकती। वह अनुपम, अरूपी सत्तावान् है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।^५

उपर्युक्त सभी कथन भाषा की सीमितता और अपर्याप्तता को तथा सत्ता की अवाच्यता या अवक्तव्यता ही सूचित करते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या तत्त्व या सत्ता को किसी भी प्रकार वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है। यदि ऐसा होगा तो सारा वाक् व्यवहार निरर्थक होगा। श्रुतज्ञान, शास्त्र, आगम आदि व्यर्थ हो जायेंगे। यही कारण था कि जैन चिन्तकों ने सत्ता या तत्त्व को समग्रतः अवाच्य या अवक्तव्य मानते हुए भी अंशतः या सापेक्षतः वाच्य माना। क्योंकि उसे अवक्तव्य या अवाच्य कहना भी तो एक प्रकार का वचन या वाक् व्यवहार ही है, यहाँ हमारा वाच्य यह है कि वह अवाच्य है। अतः हमें व्यवहार के स्तर पर उतर कर सत्ता की वक्तव्यता या वाच्यता को भी स्वीकार करना होगा। क्योंकि इसी आधार पर श्रुतज्ञान एवं आगमों की प्रामाणिकता स्वीकार की जा सकती है।

अवक्तव्यता का अर्थ

जैन आचार्यों ने दूसरों के द्वारा किये गये संकेतों के आधार पर होनेवाले ज्ञान को श्रुत ज्ञान कहा है। समस्त सांकेतिक ज्ञान श्रुतज्ञान है। सभी सांकेतिक सूचनाएँ जो किसी व्यक्ति के ज्ञान,

१. यतो वाचो निवर्तन्ते—तैत्तिरीयोपनिषद् २।४।
२. केनोपनिषद् १।४।
३. कठोपनिषद् १।२।२०।
४. माण्डूक्योपनिषद्, ७।
५. आचारांग १।५।६।

भाव या विचार को सार्थक रूप से प्रकट कर देती है और जिसके द्वारा दूसरा व्यक्ति उनके लक्षित अर्थ को ग्रहण कर लेता है—श्रुतज्ञान है। चूँकि श्रुतज्ञान प्रमाण है, अतः मानना होगा कि शब्द संकेत या भाषा अपने विषय या अर्थ का प्रामाणिक ज्ञान देने में समर्थ है। दूसरे शब्दों में सत् या वस्तु वाच्य भी है। इस प्रकार जैन दर्शन में सत्ता या वस्तु-तत्त्व को अंशतः वाच्य या वक्तव्य और समग्रतः अवाच्य या अवक्तव्य कहा गया है। यहाँ यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि इस अवक्तव्यता का क्या अर्थ है।

डा० पद्मराजे ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास को दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है—

(१) पहला वेदकालीन निषेधात्मक दृष्टिकोण—जिसमें विश्वकारण की खोज करते हुए ऋषि इस कारण तत्त्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता है, यहाँ दोनों पक्षों का निषेध है। यहाँ सत्ता की अस्ति (सत्) और नास्ति (असत्) रूप से वाच्यता का निषेध किया गया है।

(२) दूसरा औपनिषदिक दृष्टिकोण—जिसमें सत्-असत् आदि विरोधी तत्त्वों में समन्वय देखा जाता है। जैसे—‘तदेजति तन्नेजति’, ‘अणोरणीयान् महतो महीयान्’, ‘सदसद्वरेण्यम्’ आदि। यहाँ दोनों पक्षों की स्वीकृति है। यहाँ उसे दो विरुद्ध धर्मों से युक्त मानकर उसको भाषा के द्वारा अवाच्य कहा गया है।

(३) तीसरा दृष्टिकोण—जिसमें तत्त्व को स्वरूपतः अव्यपदेश्य या अनिर्वचनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में ही मिलता है। जैसे—‘यतो वाचो निवर्तन्ते’ (तैत्तिरीय २।४), नैव वाचा न मनस प्राप्तुं शक्यः (कठ० २।६।१२) ? आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद के चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व की अवधारणा में भी बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।

(४) चौथा दृष्टिकोण जैन न्याय में सापेक्षिक अवक्तव्यता या सापेक्षिक अनिर्वचनीयता के रूप में विकसित हुआ है। जिसमें सत्ता को अंशतः वाच्य और समग्रतः अवाच्य कहा गया है।

इस प्रकार सामान्यतया सत्ता की अवक्तव्यता के निम्न अर्थ हो सकते हैं—

(१) सत् व असत् दोनों रूप से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(२) सत्, असत् और सदसत् तीनों रूपों से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(३) सत्, असत् सत्-असत्, (उभय) और न सत् न असत् (अनुभय) चारों रूपों से सत्ता की वाच्यता का निषेध करना।

(४) वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अवक्तव्य मानना अर्थात् यह कि वस्तुतत्त्व अनुभवगम्य है, शब्दगम्य नहीं। वह अनुभव में तो आ सकता है किन्तु कहा नहीं जा सकता।

(५) सत् और असत् दोनों को युगपत् रूप से स्वीकार करना, किन्तु उसके कथन के लिये कोई शब्द न होने के कारण सत्ता को अवक्तव्य कहना।

(६) वस्तुत्व अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है, किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसलिए उसमें जितने धर्म हैं उतने वाचक शब्द नहीं हैं। अतः वाचक शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशतः वाच्य और अंशतः अवाच्य मानना।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन परम्परा में इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यतया जैन परम्परा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि अस्ति और नास्ति दोनों का युगपत् विवेचन नहीं किया जा सकता है, इसीलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। किन्तु यदि हम प्राचीन जैन आगमों को देखें तो अवक्तव्यता का यही अर्थ एकमात्र नहीं कहा सकता है। क्योंकि आचारांगसूत्र में आत्मा को स्वरूपतः वचनागोचर कहा गया है। उसमें कहा गया है—उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।^१ इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे समग्रतः वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता है। पुनः वस्तुतत्त्वकी अनन्तधर्मात्मकता और शब्द संख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्त्व को अवक्तव्य माना गया है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में अनभिलाप्यभाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अनुभव में आये वक्तव्य भावों का अनन्तवें भाग ही कथन किया जा सकता है।^२ अतः यह मान लेना उचित नहीं है कि जैन परम्परा में अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

सामान्यतः जैन दर्शन में अवक्तव्यता के चौथे, पाँचवें और छठें अर्थ मान्य रहे हैं। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष अवक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता में जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नहीं। वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य तो नहीं है किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुतत्त्व को पूर्णतया अवक्तव्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लेंगे तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान-प्रदान का कोई रास्ता ही नहीं रह जायेगा। अतः जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता या अवाच्यता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह निर्वचनीय या वाच्य भी है। सत्ता अंशतः निर्वचनीय है और अंशतः अनिर्वचनीय है। क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट छह अर्थों में से पहले तीन को छोड़कर अन्तिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है।

जैन दर्शन में सप्तभंगी की योजना में एक भंग अवक्तव्य भी है। सप्तभंगी में दो प्रकार के भंग हैं—एक मौलिक और दूसरे सांयोगिक। मौलिक भंग तीन हैं—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति और स्यात्-अवक्तव्य। शेष चार भंग सांयोगिक हैं, जो इन तीन मौलिक भंगों के संयोग से बने हुये हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य जैन दर्शन में अवक्तव्य या अवाच्य के अर्थ को स्पष्ट करना था। हमने देखा है कि सामान्यतया जैन दार्शनिकों की अवधारणा यह है कि वस्तु में एक ही समय में रहे हुए सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि विरुद्ध धर्मों का युगपत् रूप से अर्थात् एक ही साथ प्रतिपादन करना भाषायी सीमाओं के कारण असंभव है, क्योंकि ऐसा कोई भी क्रिया पद नहीं, जो एक ही कथन में एक साथ विधान और निषेध दोनों कर सके। अतः परस्पर विरुद्ध और भावात्मक एवं अभावात्मक धर्मों की एकही कथन में अभिव्यक्ति की भाषायी असमर्थता को स्पष्ट करने के लिए ही अवक्तव्य भंग की योजना की गई है।

१. अपयस्स पयं नत्थि—आचारांग १।५।६।

२. पणवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।—(अ) गोम्मटसार जीवकाण्ड ३३३५

—(ब) विशेषावश्यकभाष्य १४१

८६ : जैन भाषादर्शन

मेरी दृष्टि में अवक्तव्यता या अवाच्यता के अनेक रूप जैन परम्परा में मान्य रहे हैं। प्रथम तो 'है और नहीं है'—ऐसे विधि प्रतिषेध का युगपत् (एक ही साथ) प्रतिपादन सम्भव नहीं है अतः वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। दूसरे अपेक्षाएँ अनन्त हो सकती हैं किन्तु अनन्त अपेक्षाओं से युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन सम्भव नहीं है, इसलिए भी उसे अवक्तव्य या अवाच्य कहा गया। तीसरे प्रत्येक वस्तु में अनन्त विशिष्ट गुण धर्म हैं, किन्तु भाषा में प्रत्येक विशिष्ट गुण-धर्म का वाचक शब्द नहीं है, इसलिए वस्तुतत्त्व को अवाच्य कहा गया। चौथे सामान्य-शब्द प्रत्येक वस्तु के गुणधर्म-विशेष की विशिष्टता का समग्रतः वाचक नहीं हो सकता। इस प्रकार जैन दर्शन में सत्ता निरपेक्षतः एवं समग्रतः रूप से अवाच्य होते हुए भी सापेक्षतः एवं अंशतः रूप से वाच्य भी हैं।



भाषा और सत्य

सामान्यतया कथन के प्रामाण्य या सत्यता का तात्पर्य कथन की वाच्य-विषय के साथ अनुरूपता या संवादिता से है। यद्यपि कथन की सत्यता के सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टिकोण स्वयं कथन का संगतिपूर्ण होना भी है, क्योंकि जो कथन आन्तरिक विरोध से युक्त है, वह असत्य माना जाता है, उदाहरण के लिए यह कहना है कि जो दिखाई देता है वह अदृश्य है, मोहन बन्ध्या पुत्र है आदि, स्वयं ही कथन की असत्यता सूचित करता है। इन कथनों में आन्तरिक विरोध है अतः ये असत्य हैं। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु स्वरूप का अपने यथार्थ रूप में अर्थात् जैसा वह है उस रूप में कथन करना अर्थात् कथन का अपने वाच्य से अव्यभिचारी होना ही कथन की प्रामाणिकता है। यहाँ यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि कथन की प्रामाणिकता या सत्यता का निर्णय कैसे होता है? क्या कथन स्वयं ही अपनी सत्यता का बोध करा देता है या उसके लिए किसी अन्य आधार की अपेक्षा होती है? अथवा कथन की प्रामाणिकता के लिए कथन और कथ्य की संवादिता (अनुरूपता) को देखना होता है।

ज्ञान की सत्यता का प्रश्न

वस्तुतः कथन की सत्यता का यह प्रश्न अन्ततोगत्वा ज्ञान की सत्यता का प्रश्न बन जाता है, क्योंकि कथन की सत्यता का आधार कथन को श्रवण करने पर श्रोता की चेतना में बनने वाला मानस प्रतिबिम्ब है जो कि स्वयं ज्ञान रूप है, अतः कथन की सत्यता मूलतः ज्ञान की सत्यता है। भाषाजन्य-ज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान ज्ञान का ही एक भेद है। अतः उसकी सत्यता का निश्चय भी उसी आधार पर होगा। पाश्चात्य परम्परा में ज्ञान की सत्यता के प्रश्न को लेकर तीन प्रकार की अवधारणाएँ हैं—(१) संवादिता सिद्धान्त (२) संगति सिद्धान्त और (३) उपयोगितावादी (अर्थक्रियाकारी) सिद्धान्त। भारतीय दर्शन में यह संवादिता का सिद्धान्त परतः प्रामाण्यवाद के रूप में और संगति-सिद्धान्त स्वतः प्रामाण्यवाद के रूप में स्वीकृत है। अर्थक्रियाकारी-सिद्धान्त को परतः प्रामाण्यवाद की ही एक विशेष विधा कहा जा सकता है। जैन दार्शनिकों ने इस सम्बन्ध में किसी ऐकान्तिक दृष्टिकोण को न अपनाकर यह माना कि ज्ञान के प्रामाण्य या सत्यता का निश्चय स्वतः और परतः दोनों प्रकार से होता है। यद्यपि, जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति का आधार (कसौटी) ज्ञान स्वयं न होकर ज्ञेय है। प्रमाणनयतत्त्वालोक में वादिदेवसुरि ने कहा है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति तो परतः ही होती है किन्तु ज्ञप्ति स्वतः और परतः दोनों प्रकार से होता है।^१ क्योंकि ज्ञान की प्रामाण्यता और अप्रामाण्यता का आधार ज्ञान न

१. ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम् । तदुभयमुत्पत्तौ परतः एव, जप्तौ तु स्वतः परतश्च—प्रमाणनय-
तरवालेक १।१८-१९।

होकर ज्ञेय है और ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है अतः परतः है, इसलिये प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है, तथापि अभ्यास-दशा में ज्ञान की सत्यता का निश्चय अर्थात् ज्ञप्ति तो स्वतः—स्वयं उसी ज्ञान के द्वारा ही हो जाती है और अनभ्यासदशा में परतः अर्थात् से ज्ञानान्तर ज्ञान होती है। मेरी दृष्टि में वादिदेवसूरि के द्वारा ज्ञान की सत्यता की कसौटी (उत्पत्ति) को एकान्ततः ज्ञान विषय के द्वारा या परतः मान लेना समुचित प्रतीत नहीं होता है। गणितीय ज्ञान और परिभाषाओं के संदर्भ में सत्यता की कसौटी ज्ञान की आन्तरिक संगति ही होती है। वे सभी ज्ञान जिनका ज्ञेय ज्ञान से भिन्न नहीं है, उनके प्रामाण्य की उत्पत्ति भी स्वतः ही होगी। उस ज्ञान के सन्दर्भ में जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत नहीं है जैसे सर्वज्ञ का आत्मबोध, हमें उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों को स्वतः मानना होगा। ज्ञान कथंचित् रूप से ज्ञेय से अभिन्न भी होता है जैसे स्वसंवेदन और उस अभिन्नता की स्थिति में उसके प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों ही स्वतः होगी।

मेरी दृष्टि में वस्तुगत ज्ञान में भी सत्यता की कसौटी (उत्पत्ति) और ज्ञप्ति (निश्चय) को स्वतः और परतः दोनों माना जाना चाहिये। जब कोई यह प्रतिपादन करे कि “आज अमुक प्रसूतिगृह में एक बन्ध्या ने पुत्र का प्रसव किया” तो हम इस ज्ञान के मिथ्यात्व के निर्णय के लिए किसी बाहरी कसौटी का आधार न लेकर इसकी आन्तरिक असंगति के आधार पर ही इसके मिथ्यापन को जान लेते हैं। इसी प्रकार “त्रिभुज तीन भुजाओं से युक्त आकृति है” इस कथन की सत्यता इसकी आन्तरिक संगति पर ही निर्भर करती है। अतः ज्ञान या कथन के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की उत्पत्ति (कसौटी) और ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों ही ज्ञान या कथन के स्वरूप या प्रकृति के आधार पर स्वतः अथवा परतः दोनों प्रकार से हो सकती है।

सकल ज्ञान, पूर्ण ज्ञान और आत्मगत ज्ञान में ज्ञान की प्रामाण्यता का निश्चय स्वतः होगा, जबकि विकल ज्ञान, अपूर्ण (आंशिक) ज्ञान या नयज्ञान और वस्तुगत ज्ञान में उसका निश्चय परतः होगा। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के द्वारा होनेवाले ज्ञान में उसके प्रामाण्य का बोध स्वतः होगा जबकि व्यावहारिक प्रत्यक्ष और अनुमानादि में प्रामाण्य का बोध स्वतः और परतः दोनों प्रकार से सम्भव है। पुनः सापेक्ष ज्ञान में सत्यता का निश्चय परतः और स्वतः दोनों प्रकार से और निरपेक्ष ज्ञान अर्थात् आत्म-बोध में स्वतः होगा। इसी प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान की सत्यता की उत्पत्ति और ज्ञप्ति (निश्चय) दोनों ही स्वतः और परतः दोनों रूपों में हो सकती है। अतः वादिदेवसूरि का यह कथन सामान्य व्यक्ति के ज्ञान को लेकर ही है, सर्वज्ञ के ज्ञान के सम्बन्ध में नहीं है। सामान्य व्यक्तियों के ज्ञान की सत्यता का मूल्यांकन पूर्व-अनुभव दशा में स्वतः और पूर्व-अनुभव के अभाव में परतः अर्थात् ज्ञानान्तर ज्ञान से होता है, यद्यपि पूर्व-अनुभव भी ज्ञान का ही रूप है। अतः उसे भी अपेक्षा-विशेष से ही परतः कहा जा सकता है। जहाँ तक ज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न है स्वानुभव को छोड़कर वह परतः ही होती है क्योंकि वह ज्ञेय अर्थात् ‘पर’ पर निर्भर है यही कारण है कि जैन दर्शन में ज्ञान की सत्यता की उत्पत्ति (कसौटी) को परतः ही माना गया है। यद्यपि जहाँ तक कथन की सत्यता का प्रश्न है उसमें परिभाषाओं को छोड़कर सभी की सत्यता परतः ही होती है। क्योंकि भाषा का सम्बन्ध श्रोता एवं वाच्य-विषय अर्थात् ‘पर’ से है।

कथन की सत्यता का प्रश्न

यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि मानव अपनी अनुभूतियों और भावनाओं की भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। भाषा शब्द-प्रतीकों और सार्थक ध्वनि-संकेतों का एक सुव्यवस्थित रूप

है। वस्तुतः हमने व्यक्तियों, वस्तुओं, तथ्यों, घटनाओं, क्रियाओं एवं भावनाओं के लिए शब्द-प्रतीक बना लिए हैं। इन्हीं शब्द प्रतीकों एवं ध्वनि संकेतों के माध्यम से हम अपने विचारों, अनुभूतियों और भावनाओं का सम्प्रेषण करते हैं।

यहाँ मूल प्रश्न है कि हमारी इस भाषायी अभिव्यक्ति को हम किस सीमा तक सत्यता का आनुषंगिक मान सकते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भाषा और उसकी सत्यता के प्रश्न को लेकर एक पूरा दार्शनिक सम्प्रदाय ही बन गया है। भाषा और सत्य का सम्बन्ध आज के युग का एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न है। किसी कथन की सत्यता या असत्यता को निर्धारित करने का आधार आज सत्यापन का सिद्धान्त है। समकालीन दार्शनिकों की यह मान्यता है कि जिन कथनों का सत्यापन या मिथ्यापन सम्भव है वे ही कथन सत्य या असत्य हो सकते हैं। शेष कथनों का सत्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है। ए० जे० एयर ने अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज, ट्रुथ ऐंड लाजिक' में इस समस्या को उठाया है। इस सन्दर्भ में सबसे पहले हमें इस बात पर विचार कर लेना होगा कि कथन के सत्यापन से हमारा क्या तात्पर्य है। समकालीन भाषा-विश्लेषणवादियों के अनुसार कोई भी कथन जब इन्द्रियानुभव के आधार पर पुष्ट या अपुष्ट किया जा सकता है तब ही वह सत्यापनीय कहलाता है। जिन कथनों को हम इन्द्रियानुभव के आधार पर पुष्ट या खण्डित नहीं कर सकते, वे असत्यापनीय होते हैं। किन्तु इन दोनों प्रकार के कथनों के बीच कुछ ऐसे भी कथन होते हैं जो न सत्यापनीय होते हैं और न असत्यापनीय। उदाहरण के लिए—मंगल ग्रह में जीव के पाये जाने की संभावना है। यद्यपि यह कथन वर्तमान में सत्यापनीय नहीं है, किन्तु यह सम्भव है कि इसे भविष्य में पुष्ट या खण्डित किया जा सकता है। अतः वर्तमान में यह न तो सत्यापनीय है और न तो असत्यापनीय। किन्तु, सम्भावना की दृष्टि से इसे सत्यापनीय माना जा सकता है। जैन ग्रन्थ भगवती-आराधना में सत्य का एक रूप सम्भावना-सत्य माना गया है।^१

वस्तुतः कौन-सा कथन सत्य है इसका निर्णय इसी बात पर निर्भर करता है कि उसका सत्यापन (Verification) सम्भव है या नहीं है। वस्तुतः जिसे हम सत्यापन या मिथ्यापन कहते हैं वह भी उस अभिकथन और उसमें वर्णित तथ्य की संवादिता या अनुरूपता पर निर्भर करता है, जिसे जैन परम्परा में परतः प्रामाण्य कहा जाता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि कोई भी कथन तथ्य का संवादी (अनुरूप) होगा तो वह सत्य होगा और विसंवादी (विपरीत) होगा तो वह असत्य होगा। यद्यपि यह भो स्पष्ट है कि कोई भी कथन किसी तथ्य को समग्र अभिव्यक्ति नहीं दे पाता है। जैन दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से यह माना था कि प्रत्येक कथन वस्तु-तत्त्व के सम्बन्ध में हमें आंशिक जानकारी ही प्रस्तुत करता है, अतः कोई भी कथन वस्तु के सन्दर्भ में आंशिक सत्य का ही प्रतिपादक होगा। यहाँ भाषा की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य की सीमितता को भी हमें ध्यान में रखना होगा। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि भाषा तथ्य नहीं। वह तथ्य की संकेतक मात्र है। उसकी इस सांकेतिकता के सन्दर्भ में ही उसकी सत्यता या असत्यता का विचार किया जा सकता है। जो भाषा अपने तथ्य को जितना अधिक स्पष्ट रूप से संकेतित कर सकती है वह उतनी ही

१. संभावण ववहारे भावणोपम्मसच्चेण ।—भगवती आराधना ११८७।

अधिक सत्य के निकट पहुँचती है। भाषा की सत्यता और असत्यता उसकी संकेत-शक्ति के साथ जुड़ी हुई है। शब्द अर्थ (वस्तु या तथ्य) के संकेतक हैं। वे उसके हू-ब-हू (यथार्थ) प्रतिबिम्ब नहीं हैं। शब्द में मात्र यह सामर्थ्य रही हुई है कि वे श्रोता के मनस् में वस्तु का मानस-प्रतिबिम्ब (Image) उपस्थित कर देते हैं। अतः शब्द के द्वारा प्रत्युत्पन्न मानस-प्रतिबिम्ब यदि तथ्य का संवादी है, अर्थात् उससे अनुरूपता रखता है तो वह कथन सत्य माना जाता है और इसके विपरीत कथन असत्य माना जाता है। यद्यपि यहाँ भी अनुरूपता वर्तमान मानस-प्रतिबिम्ब और पूर्ववर्ती या परवर्ती मानस-प्रतिबिम्ब में ही होती है, जब किसी मानस-प्रतिबिम्ब का सत्यापन परवर्ती मानस-प्रतिबिम्ब अर्थात् ज्ञानान्तर-ज्ञान से होता है तो उसे परतः प्रामाण्य कहा जाता है और जब उसका सत्यापन पूर्ववर्ती मानस-प्रतिबिम्ब से होता है तो स्वतः प्रामाण्य कहा जाता है; क्योंकि अनुरूपता या विपरीतता मानस-प्रतिबिम्बों में ही हो सकती है। यद्यपि दोनों ही प्रकार के मानस-प्रतिबिम्बों का आधार या उनकी उत्पत्ति ज्ञेय (प्रमेय) से होती है। यही कारण था कि वादिदेवसूरि ने प्रामाण्य (सत्यता) और अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति को परतः माना। प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति को परतः कहने का तात्पर्य यही है कि इन मानस-प्रतिबिम्बों का उत्पादक तत्त्व इनसे भिन्न है। कुछ विचारक यह भी मानते हैं कि कथन के सत्यापन या सत्यता के निश्चय में शब्द द्वारा उत्पन्न मानस-प्रतिबिम्ब और अनुभव के द्वारा उत्पन्न मानस प्रतिबिम्ब में तुलना होती है। यद्यपि वस्तुवादी दृष्टिकोण यह मानेगा कि ज्ञान और कथन की सत्यता का निर्धारण मानस-प्रतिबिम्ब की तथ्य या वस्तु से अनुरूपता के आधार पर होता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि यह अनुरूपता भी वस्तुतः मानस-प्रतिबिम्ब और वस्तु के बीच न होकर शब्द निर्मित मानस-प्रतिबिम्ब और परवर्ती इन्द्रिय-अनुभव के द्वारा उत्पन्न मानस-प्रतिबिम्ब के बीच होती है। यह तुलना दो मानसिक प्रतिबिम्बों के बीच है न कि तथ्य और कथन के बीच। तथ्य और कथन दो भिन्न स्थितियाँ हैं। उनमें कोई तुलना या सत्यापन सम्भव नहीं है। शब्द वस्तु के समग्र प्रतिनिधि नहीं, संकेतक हैं और उनकी यह संकेत-सामर्थ्य भी वस्तुतः उनके भाषायी प्रयोग पर निर्भर करती है। हम वस्तु को कोई नाम देते हैं और प्रयोग के द्वारा उस “नाम” में एक ऐसी सामर्थ्य विकसित हो जाती है कि उस “नाम” के श्रवण या पठन से हमारे मानस में एक प्रतिबिम्ब खड़ा हो जाता है। यदि उस शब्द के द्वारा प्रत्युत्पन्न वह प्रतिबिम्ब हमारे परवर्ती इन्द्रियानुभव से अनुरूपता रखता है तो हम उस कथन को “सत्य” कहते हैं। भाषा में अर्थ-बोध की सामर्थ्य प्रयोगों के आधार पर विकसित होती है। वस्तुतः कोई शब्द या कथन अपने आप में न तो सत्य होता है और न असत्य। अंग्रेजी भाषा का कोई कथन अंग्रेजी भाषा के जानकार के लिए सत्य या असत्य हो सकता है, किन्तु केवल हिन्दी भाषा के जानकार के लिए वह न तो सत्य है और न असत्य। कथन की सत्यता और असत्यता तभी सम्भव होती है, जबकि श्रोता को कोई अर्थ-बोध (वस्तु का मानस-प्रतिबिम्ब) होता है। अतः पुनरुक्तियों एवं परिभाषाओं को छोड़कर कोई भी भाषायी कथन निरपेक्ष रूप से न तो सत्य होता है, और न असत्य। पुनः किसी भी कथन सत्यता या असत्यता किसी सन्दर्भ-विशेष में ही सम्भव होती है।

जैन दर्शन में कथन की सत्यता का प्रश्न

जैन दार्शनिकों ने कथन की सत्यता और असत्यता के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया है। प्रज्ञापना सूत्र (पन्नवना) में सर्वप्रथम भाषा को पर्याप्त भाषा और अपर्याप्त भाषा ऐसे दो भागों

में विभाजित किया गया है^१। पर्याप्त भाषा वह है जिसके कथन की सत्यता या असत्यता का निश्चय किया जा सकता है और अपर्याप्त भाषा वह है जिसके कथन की सत्यता और असत्यता का निश्चय नहीं किया जा सकता।^२ सम्भावित और सत्यापन के अयोग्य कथन अपर्याप्त भाषा का लक्षण है। तुलनात्मक दृष्टि से पाश्चात्य परंपरा की सत्यापनीय भाषा, गणितीय भाषा, एवं परिभाषाएँ पर्याप्त भाषा के समतुल्य मानी जा सकती हैं जबकि शेष भाषा-व्यवहार अपर्याप्त या अपूर्ण भाषा का ही सूचक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वप्रथम उन्होंने पर्याप्त भाषा की सत्य और असत्य ऐसी दो कोटियाँ स्थापित की। इसी प्रकार अपर्याप्त भाषा की भी दो कोटियाँ स्थापित की—(१) सत्य-मृषा (मिश्र) और (२) असत्य-अमृषा।

सत्य भाषा—वे कथन जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप के प्रतिपादक हैं, सत्य कहलाते हैं। कथन और तथ्य (वाच्यार्थ) को संवादिता या अनुरूपता ही सत्य की मूलभूत कसौटी है। जैन दार्शनिकों ने पाश्चात्य अनुभववादियों के समान ही यह स्वीकार किया है कि जो कथन तथ्य का जितना अधिक संवादी होगा वह उतना ही अधिक सत्य माना जायेगा। यद्यपि जैन दार्शनिक कथन की सत्यता को उसकी वस्तुगत सत्यापनीयता तक ही सीमित नहीं करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि आनुभविक सत्यापनीयता के अतिरिक्त भी कथनों में सत्यता हो सकती है। जो कथन ऐन्द्रिक अनुभवों पर निर्भर न होकर अपरोक्षानुभूति के विषय होते हैं उनकी सत्यता का निश्चय तो स्वयं अपरोक्षानुभूति पर ही निर्भर होता है। अपरोक्षानुभव के ऐसे अनेक स्तर हैं जिनकी तथ्यात्मक संगति खोज पाना कठिन है। जैन दार्शनिकों ने सत्य को अनेक रूपों में देखा है। स्थानांग^३, प्रश्नव्याकरण^४, प्रज्ञापना^५ और भगवती आराधना^६ में सत्य के दस भेद बताये गये हैं :—१. जनपद-सत्य, २ सम्मत-सत्य, ३, स्थापना-सत्य, ४. नाम-सत्य, ५. रूप-सत्य, ६. प्रतीति-सत्य, ७. व्यवहार-सत्य, ८. भाव-सत्य, ९, योग-सत्य, १०. उपमा-सत्य। अकलंक ने सम्मत-सत्य, भाव-सत्य और उपमा-सत्य

१. कतिविहा णं भंते ! भासा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा भासा पन्नत्ता, तंजहा—पज्जत्तिया य अपज्जत्तिया य ।
—प्रज्ञापनासूत्र; भाषापद, १५ ।
२. पज्जत्तिया णं भंते ! भासा कतिविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—सच्चा मोसा य । अपज्जत्तिया णं भंते ! कतिविहा भासा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—सच्चामोसा असच्चा-मोसा य ।
—वही, १६-१९ ।
३. जणवय सम्मय ठवणा, णामे रूवे पडुच्चसच्चे य ।
ववहार भाव जोगे दसमे ओवम्मसच्चे य ॥
—स्थानांगसूत्र, दशम स्थान, ८९
४. तं सच्चं भगवं तित्थकरसुभासियं दसविहं ।
—प्रश्नव्याकरणसूत्र, सातवां अध्याय, २४
५. सच्चा णं भंते । भासा पज्जत्तिया कतिविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दसविहा पन्नत्ता । तं जहा—जणवय-सच्चा १. सम्भेयसच्चा २. ठवणसच्चा ३. नामसच्चा ४. रूवसच्चा ५. पडुच्चसच्चा ६. ववहारसच्चा ७. भावसच्चा ८. जोगसच्चा ९. ओवम्मसच्चा १०.
—प्रज्ञापनासूत्र; भाषापद, १७
६. जणवदसमदिठवणा णामे रूवे पडुच्चववहारे ।
सम्भादणववहारे भावेणोपम्मसच्चेण ॥
—भगवतीआराधना, ११८७

के स्थान पर संयोजना-सत्य और काल-सत्य का उल्लेख किया है ।^१ भगवती आराधना में योग-सत्य के स्थान पर संभावना सत्य का उल्लेख हुआ है ।^२

१. जनपद-सत्य—जिस देश में जो भाषा या शब्द-व्यवहार प्रचलित हो, उसी के द्वारा वस्तु-तत्त्व का संकेत करना जनपद-सत्य है । एक जनपद या देश में प्रयुक्त होने वाला वही शब्द दूसरे देश में असत्य हो जायेगा । बाईजी शब्द मालवे में माता के लिए प्रयुक्त होता है, जबकि उत्तर प्रदेश में वेश्या के लिए । अतः बाईजी से माता का अर्थबोध मालवे के व्यक्ति के लिए सत्य होगा, किन्तु उत्तर प्रदेश के व्यक्ति के लिए असत्य ।

२. सम्मत-सत्य—वस्तु के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग करना सम्मत-सत्य है, जैसे—राजा, नृप, भूपति आदि । यद्यपि ये व्युत्पत्ति की दृष्टि से अलग-अलग अर्थों के सूचक हैं । जनपद-सत्य एवं सम्मत-सत्य प्रयोग-सिद्धान्त (Use Theory) से आधारित अर्थबोध के सूचक हैं ।

३. स्थापना-सत्य—शतरंज के खेल में प्रयुक्त विभिन्न आकृतियों को राजा, वजीर आदि नामों से संबोधित करना स्थापना-सत्य है, इसमें वस्तु के प्रतिबिम्ब या स्थानापन्न को भी उसी नाम से संबोधित किया जाता है, जैसे महावीर की प्रतिमा को महावीर कहना ।

४. नाम-सत्य—गुण-निरपेक्ष मात्र दिये गये नाम के आधार पर वस्तु को सम्बोधित करना यह नाम-सत्य है । एक गरीब व्यक्ति को भी “लक्ष्मीपति” नाम दिया जा सकता है, उसे इस नाम से पुकारना नाम-सत्य है ।

५. रूप-सत्य—वेश के आधार पर व्यक्ति को उस नाम से पुकारना रूप-सत्य है, चाहे वस्तुतः वह वेश न हो, जैसे—नाटक में राम अभिनय करने वाले व्यक्ति को “राम” कहना या साधुवेशधारी को साधु कहना ।

६. प्रतीति-सत्य—सापेक्षिक कथन अथवा प्रतीति को सत्य मानकर चलना प्रतीत्य-सत्य है । जैसे अनामिका बड़ी है, मोहन छोटा है आदि । इसी प्रकार आधुनिक खगोल-विज्ञान की दृष्टि से “पृथ्वी स्थिर है” यह कथन भी प्रतीत्य सत्य है वस्तुतः सत्य नहीं ।

७. व्यवहार सत्य—व्यवहार में प्रचलित भाषायी प्रयोग व्यवहार सत्य कहे जाते हैं यद्यपि वस्तुतः वे असत्य होते हैं । जैसे—घड़ा झरता है, बनारस आ गया, यह सड़क बंबई जाती है । वस्तुतः घड़ा नहीं पानी झरता है, बनारस नहीं आता हम बनारस पहुँचते हैं । सड़क स्थिर है वह नहीं जाती है, उस पर चलने वाला जाता है ।

८. भाव-सत्य—किसी एक गुण की प्रमुखता के आधार पर वस्तु को वैसा कहना भाव-सत्य है । जैसे अंगूर मीठे हैं यद्यपि उनमें खट्टापन भी रहा हुआ है ।

९. योग-सत्य—वस्तु के संयोग के आधार पर उसे उस नाम से पुकारना योग-सत्य है । जैसे दण्ड धारण करने वाले को दण्डी कहना या जिस घड़े में घी रखा जाता है उसे घी का घड़ा कहना ।

१. नामरूपस्थापनाप्रतीत्य संवृति संयोजना जनपद देशभाव समयसत्यभेदेन ।

— राजवार्तिक १।२०

२. देखें, भगवती आराधना ११८७ ।

१०. उपमा-सत्य—यद्यपि चंद्रमा और मुख दो भिन्न तथ्य हैं और उनमें समानता भी नहीं है फिर भी उपमा में ऐसे प्रयोग होते हैं। जैसे चंद्रमुखी, मृगनयनी आदि। लोक भाषा में इसे सत्य माना जाता है।

वस्तुतः सत्य के इन दस रूपों का संबंध तथ्यगत सत्यता के स्थान पर भाषागत सत्यता से है। भाषा-व्यवहार में इन्हें सत्य माना जाता है। यद्यपि कथन की सत्यता मूलतः तो उसकी तथ्य से संवादिता पर निर्भर करती है। फिर भी अपनी व्यावहारिक उपादेयता के कारण ही इन्हें सत्य की कोटि में परिगणित किया गया है।

असत्य भाषा

जैन दार्शनिकों ने सत्य के साथ-साथ असत्य के स्वरूप पर भी विचार किया है। असत्य का अर्थ है कथन का तथ्य से विस्वादी होना या विपरीत होना। प्रश्नव्याकरण में असत्य की काफी विस्तार से चर्चा है। उसमें असत्य के ३० पर्यायवाची नाम दिये गये हैं।^१ मुख्यतः असत्य-वचन के चार प्रकार हैं—

अलीक—जिसका अस्तित्व नहीं है उसको अस्ति-रूप कहना अलीक वचन है।

अवलोप—सद्बस्तु को नास्ति रूप कहना अवलोप है।

विपरीत—वस्तु के स्वरूप का भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करना विपरीत कथन है।

एकान्त—ऐसा कथन, जो तथ्य के सम्बन्ध में अपने पक्ष का प्रतिपादन करने के साथ अन्य पक्षों या पहलुओं का अपलाप करता है, वह भी असत्य माना गया है। इसे दुर्नय भी कहा गया है।

इनके अतिरिक्त जैनों के अनुसार हिंसाकारी वचन, कटु-वचन, विश्वासघात, दोषारोपण आदि भी असत्य के ही रूप हैं।

भगवती आराधना में असत्य के निम्न चार भेद बतलाये हैं—१. सद्भूत वस्तु का निषेध करना, २. असद्भूत (अनिस्तित्ववान) का विधान करना, ३. अन्यथा कथन (विपरीत कथन) अर्थात् वस्तु को अपने स्वरूप से भिन्नरूप में कहना, ४. गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचन।

प्रज्ञापनासूत्र में असत्य या मृषा भाषा के निम्न दस भेद बताये गये हैं—(१) क्रोध-निःसृत (२) मान-निःसृत, (३) माया-निःसृत, (४) लोभ-निःसृत, (५) प्रेम-निःसृत, (६) द्वेष-निःसृत, (७) हास्य-निःसृत, (८) भय-निःसृत, (९) आख्यायिका-निःसृत और (१०) उपघात-निःसृत।^२

वस्तुतः यहाँ दार्शनिक दृष्टि से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि क्रोध, अहंकार, कपटवृत्ति, लोभ, राग, द्वेष और हास्य और भय के वशीभूत होकर बोली गई भाषा को असत्य क्यों कहा गया? यद्यपि क्रोध, भय आदि की स्थिति में बोला गया वचन अधिकांश रूप में तथ्य का विस्वादी भी होता है लेकिन कभी-कभी वह सत्य भी होता है, फिर भी जैन आचार्यों ने इसे सत्य की कोटि में

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र १।२।६।

२. भगवतीआराधना गाथा ८१८ से ८२३।

३. मोसा णं भंते। भासा पज्जत्तिया कतिविहा पन्नत्ता? गोयमा। दसविहा पन्नत्ता, तं जहा—कोहनिस्सिया १, माननिस्सिया २, मायानिस्सिया ३, लोहनिस्सिया ४, पेज्जणिनिस्सिया ५, दोसनिस्सिया ६, हासणि-स्सिया ७, भयनिस्सिया ८, अवखाइयानिस्सिया ९, उवघाइयनिस्सिया १०।

स्वीकार नहीं किया है। वे उसे असत्य ही मानते हैं। हमारी दृष्टि में इसका आधार यह है कि दुष्ट आशय के द्वारा बोली गई भाषा चाहे वह तथ्य की संवादी क्यों न हो सत्य नहीं मानी जा सकती। वस्तुतः उपर्युक्त असत्य भाषा के जो दस प्रकार बताये गये हैं वे भाषा की सत्यता या असत्यता का प्रतिपादन करने के स्थान पर उन स्थितियों को बताते हैं जिनके कारण असत्य भाषण होता है। ये वे स्थितियाँ हैं जो असत्य को जन्म देती हैं। जब भी व्यक्ति असत्य सम्भाषण करता है इनमें से किसी एक कारण के आधार पर करता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण में दो प्रकार ऐसे हैं जिन पर और अधिक विचार अपेक्षित है। इनमें आख्यायिका भाषा को असत्य कहा गया है। आख्यायिका का मतलब कथा होता है। जब व्यक्ति किसी आख्यान या कथा का चित्रण करता है तो उसमें अनेक असम्भावित कल्पनाओं को भी स्थान दे देता है और इस प्रकार का कथन प्रामाणिकता को खो देता है। उपन्यास आदि कथा साहित्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी प्रकार उपघात निःसृता भाषा भी असत्य कही गई है, क्योंकि इसमें दूसरों पर मिथ्यादोषारोपण की प्रवृत्ति कार्य करती है—इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनों ने भाषा की सत्यता-असत्यता का विचार मात्र तथ्यगत सम्वादिता के आधार पर ही नहीं किया अपितु उन मूलभूत कारणों के आधार पर भी किया जिससे कथन की प्रामाणिकता या सत्यता खण्डित हो जाती है।

सत्य-मृषा कथन

वे कथन जिनका अर्थ उभय कोटिक हो सकता है, सत्य-मृषा कथन है। 'अश्वत्थामा मारा गया' यह महाभारत का प्रसिद्ध कथन सत्य-मृषा भाषा का उदाहरण है। वक्ता और श्रोता इसके भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण कर सकते हैं। अतः जो कथन दोहरा अर्थ रखते हैं वे सत्य-मृषा-भाषा का उदाहरण हैं। इसी प्रकार अनिश्चयात्मक कथन भी इसी कोटि में आते हैं। सम्भावनात्मक कथनों को कुछ जैनाचार्यों ने सत्य का एक भेद माना है किन्तु मेरी दृष्टि में उन्हें सत्य-मृषा भाषा की कोटि में परिगणित करना चाहिए। प्रज्ञापनासूत्र में मिश्र भाषा अथवा सत्य-मृषा भाषा के भी निम्न दस भेद बताये गये हैं—(१) उत्पन्न-मिश्रिता, (२) विगत-मिश्रिता, (३) उत्पन्न-विगत मिश्रिता, (४) जीव मिश्रिता, (५) अजीव मिश्रिता, (६) जीव-अजीव मिश्रिता, (७) अनन्त मिश्रिता, (८) परिमित (सीमित) मिश्रिता, (९) काल मिश्रिता और (१०) अकाल मिश्रिता।^१

(१) उत्पन्न मिश्रिता—प्रज्ञापना के टीकाकारों ने उत्पन्न मिश्रिता भाषा का उदाहरण देते हुए कहा है कि पूर्णतया निश्चित संस्था का ज्ञान न होने पर कभी आनुमानिक रूप से उत्पत्ति संबंधी कथन करना उत्पन्न मिश्रिता भाषा है। जैसे—आज इस ग्राम में दसों बालकों का जन्म हुआ। वर्तमान सन्दर्भ में इसे हम आनुमानिक आकड़ों का प्रस्तुतीकरण कह सकते हैं। आनुमानिक संस्था सम्बन्धी कथन न तो पूर्णतः असत्य ही कहे जा सकते हैं और न पूर्णतः सत्य ही। अतः उन्हें मिश्र

१. सक्चामोसा णं भंते । भासा अपज्जत्तिया कतिविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दसविहा पन्नत्ता, तंजहा—
उप्पणमिस्सिया १, विगतमिस्सिया २, उप्पणविगतमिस्सिया ३, जीवमिस्सिया ४, अजीवमिस्सिया ५,
जीवाजीवमिस्सिया ६, अणंतमिस्सिया ७, परित्तमिस्सिया ८, अद्धामिस्सिया ९, अद्धद्धामिस्सिया १० ।

भाषा की कोटि में मानना होगा। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि वाराणसी की जनसंख्या १० लाख है तो हमारा यह कथन न तो असत्य ही कहा जा सकता है और न सत्य ही। सामान्यतया 'लगभग' का प्रयोग करके जो कथन किये जाते हैं वे इस कोटि में आते हैं। इसे हम उत्पत्ति सम्बन्धी आँकड़ों का आनुमानिक प्रस्तुतीकरण कह सकते हैं। इसमें संख्या निश्चित न होकर आनुमानिक होती है।

(२) विगत मिश्रिता—टीकाकारों की दृष्टि में इसका अर्थ मरण सम्बन्धी अनिश्चित संख्या का प्रतिपादन माना गया है जैसे—आज नगर में दसों लोगों की मृत्यु हो गई अथवा युद्ध में लाखों व्यक्ति मारे गये। विगत मिश्रिता का एक अर्थ भूतकालिक घटनाओं के अनुमानित आँकड़े प्रस्तुत करना भी हो सकता है। पूर्वोक्त उत्पन्न मिश्रिता के समान यह भाषा भी न एकान्त रूप से सत्य कही जा सकती है और न असत्य। अतः मिश्र भाषा की कोटि में आती है। टीकाकारों ने इसमें दस आदि निश्चित संख्या का जो उल्लेख किया है वह समुचित नहीं जान पड़ता है। वस्तुतः दोनों प्रकारों में कथंचित् अनिश्चित संख्या का प्रयोग होना चाहिए। जैसे सैकड़ों, हजारों या लाखों।

(३) उत्पन्न-विगत मिश्रिता—जैसे भारत में हजारों बालक प्रतिदिन जन्म लेते हैं और मरते हैं। यहाँ भी पूर्णतया निश्चित संख्या के अभाव में इसे भी मिश्र भाषा की कोटि में माना गया है।

(४-६) जीव मिश्रिता, अजीव मिश्रिता और जीव-अजीव मिश्रिता—टीकाकारों ने जीव-मिश्रिता भाषा का उदाहरण देते हुए कहा है कि अनेक जीवित और अनेक मृत शुक्तिकाओं के समूह को देखकर यह कहना कि यह जीवों का समूह है। जीवित शुक्तिकाओं की अपेक्षा से यह भाषा सत्य है किन्तु मृत शुक्तिकाओं की अपेक्षा से यह असत्य है। अतः इसे मिश्र भाषा कहा गया है। मेरी दृष्टि में इसका एक अन्य अर्थ भी हो सकता है। जीव मिश्रित, अजीव मिश्रित और जीव-अजीव मिश्रित—ये तीनों प्रकार की भाषाएँ वस्तुतः सजीव एवं निर्जीव दोनों प्रकार के लक्षणों से युक्त वस्तु के सन्दर्भ में ऐकान्तिक रूप से जीवित या मृत होने का कथन करना है। उदाहरण के लिए हम शरीर को न जड़ कह सकते हैं न चेतन, अपेक्षाभेद से वह जड़ भी हो सकता है और चेतन भी हो सकता है और उभय भी। उन अपेक्षाओं की अवहेलना करके उसे ऐकान्तिक रूप से जड़, चेतन या उभय कहा जायेगा तो वह मिश्र भाषा का ही उदाहरण होगा, क्योंकि उस भाषा को ऐकान्तिक रूप से सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता है।

(७-८) अनन्त मिश्रित और परिमित मिश्रित—टीकाकारों ने यहाँ अनन्त मिश्रित को व्याख्या अनन्तकायिक वनस्पति के सन्दर्भ को लेकर की है किन्तु मेरी दृष्टि से अनन्त मिश्रित और सीमित मिश्रित का तात्पर्य वनस्पतिकायिक जीवों से न होकर संख्या सम्बन्धी कथनों से ही है। भाषायो प्रयोगों में हम अनेक बार असीम और ससीम का अनिश्चित अर्थ में प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए हम कहते हैं कि समुद्र की जलराशि अपार (अनन्त) है, उसकी प्रज्ञा का कोई अन्त नहीं आदि। यद्यपि उपर्युक्त दोनों कथन में न समुद्र की जलराशि अनन्त है और न प्रज्ञा ही। वस्तुतः वे सीमित हैं किन्तु भाषायी प्रयोग में उन्हें असीम या अनन्त कह दिया जाता है यद्यपि यहाँ वक्ता का प्रयोजन मात्र उसकी विशालता को बताना है। इसी प्रकार कभी-कभी अल्पता को बताने के लिए निषेधात्मक भाषा का प्रयोग कर दिया जाता है। जैसे—आज उसने कुछ नहीं किया। यहाँ कुछ नहीं किया का तात्पर्य पूर्ण निषेधात्मक नहीं है। अतः भाषायी प्रयोगों में ससीम को असीम और

९६ : जैन भाषादर्शन

‘न कुछ’ कहकर अभिव्यक्त करने की जो प्रवृत्तियाँ हैं वे एकान्त रूप से सत्य या असत्य नहीं कही जा सकती और इसलिए मिश्र भाषा की कोटि में आती हैं।

(९-१०) काल मिश्रित और अकाल मिश्रित—काल और अकाल मिश्रित कथनों के उदाहरण निम्न हो सकते हैं जैसे—सबेरा होने के पहले ही किसी व्यक्ति को जगाने के लिए कहा जाये कि भाई उठो दिन निकल आया है। अथवा किसी जल्दी की स्थिति में १० या ११ बजे भी यह कह देना कि अरे! दोपहर हो गई। वस्तुतः उपर्युक्त सभी कथन व्यावहारिक भाषा में प्रचलित होते हैं, किन्तु उनकी सत्यता और असत्यता का एकान्त रूप से निर्धारण नहीं होता है। अतः उसे मिश्र भाषा कहा जाता है।

जब कथनों को निश्चित रूप से सत्य या असत्य की कोटि में रखना सम्भव नहीं होता है तो उन्हें सत्य-मृषा कहा जाता है।

असत्य-अमृषा कथन

प्रज्ञापना सूत्र में कथनों के कुछ प्रारूपों को असत्य-अमृषा कहा गया है। वस्तुतः वे कथन जिन्हें सत्य या असत्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता असत्य-अमृषा कहे जाते हैं। जो कथन किसी विधेय का विधान या निषेध नहीं करते उनका सत्यापन सम्भव नहीं होता है और जैन आचार्यों ने ऐसे कथनों को असत्य-अमृषा कहा है जैसे आदेशात्मक कथन। प्रज्ञापना में निम्न १२ प्रकार के कथनों को असत्य-अमृषा कहा गया है।^१

१. आमन्त्रणी

‘आप हमारे यहाँ पधारें’, ‘आप हमारे विवाहोत्सव में सम्मिलित हों’—इस प्रकार आमन्त्रण देने वाले कथनों की भाषा आमन्त्रणी कही जाती है। ऐसे कथन सत्यापनीय नहीं होते। इसलिए ये सत्य या असत्य की कोटि से परे होते हैं।

२. आज्ञापनीय

‘दरवाजा बन्द कर दो’, ‘बिजली जला दो’, आदि आज्ञावाचक कथन भी सत्य या असत्य की कोटि में नहीं आते। ए० जे० एयर प्रभृति आधुनिक तार्किकभाववादी विचारक भी आदेशात्मक भाषा को सत्यापनीय नहीं मानते हैं, इतना ही नहीं, उन्होंने समग्र नैतिक कथनों के भाषायी विश्लेषण के आधार पर यह सिद्ध किया है कि वे विधि या निषेध रूप में आज्ञा-सूचक या भावना-सूचक ही हैं, इसलिए वे न तो सत्य हैं और न असत्य हैं।

३. याचनीय

‘यह दो’ इस प्रकार की याचना करने वाली भाषा भी सत्य और असत्य की कोटि से परे होती है।

१. असञ्चामोसा णं भंते ! भासा अपज्जंत्तिया कतिविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुवालसविहा पन्नत्ता । तंजहा—
आमंतणि १, आणमणी २, जायणि ३, तह पुच्छणी य ४, पण्णवणी ५ ।

पच्चक्खणी ६ भासा भासा इच्छाणुलोमा ७ य ॥

अणभिग्गहिया भासा ८ भासा य अभिग्गहंमि बोद्धव्वा ९ ।

संसयकरणी भासा १० वोगड ११ अब्बोगडा चव १२ ॥—प्रज्ञापनासूत्र, भाषापद, २०

४. पृच्छनीय

यह रास्ता कहाँ जाता है ? आप मुझे इस पद्य का अर्थ बतायेंगे ? इस प्रकार के कथनों की भाषा पृच्छनीय कही जाती है। चूँकि यह भाषा भी किसी तथ्य का विधि-निषेध नहीं करती है, अतः इसका सत्यापन सम्भव नहीं है।

५. प्रज्ञापनीय अर्थात् उपदेशात्मक भाषा

जैसे चोरी नहीं करना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए आदि। चूँकि इस प्रकार के कथन भी तथ्यात्मक विवरण न होकर उपदेशात्मक होते हैं, अतः ये सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आते। आधुनिक भाषा-विश्लेषणवादी दार्शनिक नैतिक कथनों का अन्तिम विश्लेषण प्रज्ञापनीय भाषा के रूप में ही करते हैं और इसलिए इसे सत्यापनीय नहीं मानते हैं। उनके अनुसार वे नैतिक प्रकथन जो बाह्य रूप से तो तथ्यात्मक प्रतीत होते हैं, लेकिन वस्तुतः तथ्यात्मक नहीं होते जैसे— चोरी करना बुरा है, सत्यापनीय नहीं है। उनके अनुसार इस प्रकार के कथनों का अर्थ केवल इतना ही है कि तुम्हें चोरी नहीं करना चाहिए या चोरी के कार्य को हम पसन्द नहीं करते हैं। यह कितना सुखद आश्चर्य है कि जो बात आज के भाषा-विश्लेषणदार्शनिक प्रस्तुत कर रहे हैं उसे दो सहस्र वर्ष पूर्व जैन विचारक सूत्र रूप में प्रस्तुत कर चुके हैं। आज्ञापनीय और प्रज्ञापनीय भाषा को असत्य-अमृषा कहकर उन्होंने आधुनिक भाषा-विश्लेषण की ओर संकेत किया है।

६. प्रत्याख्यानिय

किसी प्रार्थी की माँग को अस्वीकार करना प्रत्याख्यानिय भाषा है। जैसे तुम्हें यहाँ नौकरी नहीं मिलेगी अथवा तुम्हें भिक्षा नहीं दी जा सकती। यह भाषा भी सत्यापनीय नहीं है।

७. इच्छानुकूलिका

किसी कार्य में अपनी अनुमति देना अथवा किसी कार्य के प्रति अपनी पसन्दगी स्पष्ट करना इच्छानुकूलिका भाषा है। तुम्हें यह कार्य करना ही चाहिए; इस प्रकार के कार्य को मैं पसन्द करता हूँ; मुझे झूठ बोलना पसन्द नहीं है आदि। आधुनिक नीतिशास्त्र का संवेगवादी सिद्धान्त भी नैतिक कथनों को अभिरुचि या पसन्दगी का ही एक रूप बताता है और उसे सत्यापनीय नहीं मानता है।

८. अनभिग्रहीता

ऐसा कथन, जिसमें वक्ता अपनी न तो सहमति प्रदान करता है और न असहमति, अनभिग्रहीत कहलाता है। जैसे 'जो पसन्द हो वह कार्य करो', 'जो तुम्हें सुखप्रद हो वैसा करो' आदि। ऐसे कथन भी सत्यापनीय नहीं होते। इसलिए इन्हें भी असत्य-अमृषा कहा गया है।

९. अभिग्रहीता

किसी दूसरे व्यक्ति के कथन को अनुमोदित करना अभिग्रहीत कथन है। जैसे—हाँ, तुम्हें ऐसा ही करना चाहिए। ऐसे कथन भी सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आते हैं।

१०. संदेहकारिणी

जो कथन द्व्यर्थक हो या जिनका अर्थ स्पष्ट न हो संदेहात्मक कहे जाते हैं। जैसे—सैन्धव अच्छा होता है—यहाँ वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है कि सैन्धव से उसे नमक अभिप्रेत है या सिन्धु देश का घोड़ा। अतः ऐसे कथनों को भी न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य।

११. व्याकृता

व्याकृता से जैन विचारकों को क्या अभिप्रेत है यह स्पष्ट नहीं होता है। हमारी दृष्टि में व्याकृत का अर्थ परिभाषित करना ऐसा हो सकता है। वे कथन जो किसी तथ्य की परिभाषायें हैं, इस कोटि में आते हैं। आधुनिक भाषा विश्लेषक दार्शनिकों की दृष्टि से कहें तो वे पुनरुक्तियाँ हैं। जैन विचारकों ने इन्हें भी सत्य या असत्य की कोटि में नहीं रखा है, क्योंकि इनका कोई अपना विधेय नहीं होता है या ये कोई नवीन कथन नहीं करते हैं।

१२. अव्याकृता

वह भाषा जो स्पष्ट रूप से कोई विधि निषेध नहीं करती है अव्याकृत कही जाती है। जैसे— यह नहीं कहा जा सकता कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत। अव्याकृत भाषा तथ्य का स्पष्ट रूप से विधान या निषेध नहीं करती है, इसलिए वह भी सत्य-असत्य की कोटि में नहीं आती है।

आज समकालीन दार्शनिकों ने भी आमंत्रणी, आज्ञापनीय, याचनीय, प्रच्छनीय और प्रज्ञापनीय आदि कथनों को असत्य-अमृषा (असत्यापनीय) माना है। एयर आदि ने नैतिक प्रकथनों को आज्ञापनीय मानकर उन्हें असत्यापनीय कहा है, जो जैन-दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या के साथ संगतिपूर्ण है।

भाषायी अभिव्यक्ति की सापेक्षिक सत्यता

कथन की सत्यता और असत्यता के विवेचन के प्रसंग में हमें यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि जैन दर्शन के अनुसार कथनों की सत्यता और असत्यता सापेक्ष ही होती है, निरपेक्ष नहीं। सम्पूर्ण सत्य को चाहे जाना जा सकता हो किन्तु कहा नहीं जा सकता। जब भी हम उसकी अभिव्यक्ति का कोई प्रयास करते हैं तो वह सीमित व सापेक्षिक बन जाता है। जैन आचार्यों का कहना है कि चाहे वह जिन के ही वचन क्यों न हों, वे भी सापेक्ष सत्य ही होते हैं, निरपेक्ष सत्य नहीं। चाहे सर्वज्ञ का जानना पूर्ण हो लेकिन अभिव्यक्ति तो सीमित ही होती है। चाहे तथ्यों को उनकी पूर्णता में जाना जा सकता हो किन्तु कहा नहीं जा सकता। इसीलिए कहा गया है कि जिनवचन भी नय से रहित नहीं होते^१। क्योंकि सर्वज्ञ को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसी भाषा का सहारा लेना होता है जो सीमित एवं सापेक्ष होती है तथा “है” और “नहीं है” की सीमा से घिरी हुई है। अतः भाषा के माध्यम से जो भी कहा जाता है वह सापेक्ष ही होता है और जो सापेक्ष होता है उसकी सत्यता अपने सीमित सन्दर्भ में ही होती है। अतः भाषायी अभिव्यक्तियाँ अपनी सत्यता की दृष्टि से सापेक्ष और सीमित होती हैं।

जो कथन सत्य या असत्य की कोटि में रखे जाते हैं वे सभी अपनी सत्यता और असत्यता को किसी सन्दर्भ विशेष में ही रखते हैं। उस सन्दर्भ विशेष में ही उन्हें सत्य या असत्य कहा जा सकता है। यदि कहा जाये कि हिन्दुस्तान की जनसंख्या बहुत अधिक है तो यह कथन चीन के अतिरिक्त अन्य देशों की अपेक्षा से सत्य होगा किन्तु चीन की अपेक्षा से असत्य हो जायेगा। अतः भाषायी कथनों की सत्यता-असत्यता निरपेक्ष नहीं होती है। वह सापेक्ष ही होती है। जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि जन-साधारण का ज्ञान एवं कथन सीमित और सापेक्ष ही होता है। वैज्ञानिक

१. णत्थि णये हि विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमए किञ्चि ।—विशेषावश्यक भाष्य २२७७।

अल्बर्ट आइन्स्टीन ने भी कहा था कि “हम केवल सापेक्षिक सत्य को जान सकते हैं, निरपेक्ष सत्य को तो कोई पूर्ण द्रष्टा ही जान सकेगा”। (We can only know the relative truth, the real truth is known only to the universal observer—Cosmology Old and New, Page-13).

यदि हमारा समस्त ज्ञान आंशिक अपूर्ण, एवं सापेक्षिक है तो हमें यह दावा करने का कोई अधिकार नहीं है कि मेरा कथन ही एक मात्र सत्य है। सम्भावना यह भी हो सकती है कि किसी अन्य दृष्टि से अथवा किसी अन्य सन्दर्भ में उस कथन का विरोधी कथन ही सत्य हो। चाहे केवल-ज्ञान की निरपेक्ष सत्यता को स्वीकार कर भी लिया जाये, किन्तु कथन की निरपेक्ष सत्यता तो कथमपि सम्भव नहीं है। जो कुछ भी कहा जाता है वह किसी सन्दर्भ विशेष में ही कहा जाता है। अतः उसकी सत्यता और असत्यता भी उसी सन्दर्भ विशेष में निहित होती है। किसी भी कथन की सत्यता और असत्यता उस सन्दर्भ से बाहर नहीं देखी जा सकती, जिसमें कि वह कहा गया है। अतः सत्यता या असत्यता का विचार किसी सन्दर्भ विशेष में सत्यता या असत्यता का विचार है।

दूसरो महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि हमारी भाषा सापेक्ष है और उसकी सत्यता किसी दृष्टि विशेष, अपेक्षा विशेष या सन्दर्भ विशेष में निर्भर करती है तो हमें कथन की कोई ऐसी पद्धति खोजनी होगी जो अपनी बात को कहकर भी अपने विरोधी कथनों की सत्यता की सम्भावना का निषेध न करे। जैन आचार्यों ने इस प्रकार की कथन पद्धति का विकास किया है और उसे स्याद्-वाद एवं सप्तभंगो के नाम से विवेचित किया है। स्याद्वाद और सप्तभंगी क्या है, इस सन्दर्भ में तो यहाँ कोई विस्तृत चर्चा नहीं करना चाहते, किन्तु मैं इतना अवश्य ही कहना चाहूँगा कि हमारा कथन सत्य रहे और हमारे वचन व्यवहार से श्रोता को कोई भ्रान्ति न हो, इसलिए कथन पद्धति में हमें अपने विधि-निषेधों को सापेक्ष रूप से ही रखना चाहिए। यह सापेक्षिक कथन-पद्धति ही स्याद्वाद है। जैन आचार्यों ने स्यात् को सत्य का चिह्न^१ इसीलिए कहा है कि अपेक्षापूर्वक कथन करके जहाँ एक ओर वह हमारे कथन को अविरोधी और सत्य बना देता है, वहीं दूसरी ओर श्रोता को कोई भ्रान्ति नहीं होने देता। भगवान् महावीर ने इसीलिए अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे ऐसी भाषा का प्रयोग करें जो विभज्यवादी हो। विभज्यवाद भाषायी अभिव्यक्तियों की वह प्रणाली है जो प्रश्नों को विभाजित करके उत्तर देती है। भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध दोनों ने ही इस बात पर सर्वाधिक बल दिया था कि हमें अपनी भाषा को स्पष्ट बनाना चाहिए। विभज्यवाद के सन्दर्भ में पूर्व में कहा जा चुका है। विभज्यवाद कथन की वह प्रणाली है जो किसी प्रश्न के सन्दर्भ में ऐकान्तिक निर्णय नहीं देकर प्रश्न का सम्यक् विश्लेषण करती है। जब बुद्ध से यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित ? तो उन्होंने कहा कि यदि गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों ही मिथ्यावादी हैं तो वे आराधक नहीं हैं। किन्तु यदि वे मिथ्यावादी नहीं हैं तो वे आराधक हो सकते हैं। इसी प्रकार जब जयन्ती ने महावीर से पूछा कि कि सोना अच्छा है या जागना ? तो उन्होंने कहा—कुछ जीवों का सोना अच्छा है कुछ का जागना।

१. देखें—जैनदर्शन (डॉ० महेन्द्रकुमार) पृ० ३६२ ।

पापो का सोना अच्छा है और धर्मों का जागना^१। उपयुक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होती है कि वक्ता को उसके प्रश्न का विश्लेषण पूर्वक उत्तर देना ही विभज्यवाद है। प्रश्न के उत्तरों की यह विश्लेषणात्मक शैली विचारों को सुलझाने वाली तथा सत्य के अनेक आयामों को स्पष्ट करने वाली है। आधुनिक भाषा-विश्लेषणवाद किसी सीमा तक कथन को विश्लेषित करने वाली इस पद्धति को स्वीकार करके चलता है। भाषा-विश्लेषणवाद का मूलभूत उद्देश्य कथन के उन अन्तिम घटकों के अर्थ स्पष्ट करना है जिन्हें उन्होंने तार्किक अणु (Logical Atom) कहा है। किसी कथन के वास्तविक प्रतिपाद्य का पता लगाने के लिए यह पद्धति उस कथन को विश्लेषित करके यह स्पष्ट करती है कि उस कथन का वास्तविक तात्पर्य क्या है। यह सत्य है कि आज भाषा विश्लेषण-वाद एक विकसित दर्शन के रूप में हमारे सामने आया है किन्तु इसके मूल बीज बुद्ध और महावीर के विभज्यवाद में उपस्थित हैं। न केवल इतना ही अपितु जैन, बौद्ध और वैयाकरण दर्शन के आचार्यों ने भाषा दर्शन के जो विविध आयाम प्रस्तुत किये हैं वे अभी गम्भीर विवेचन की अपेक्षा रखते हैं। शब्द के वाच्यार्थ के प्रश्न को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने जितनी गम्भीरता से चिन्तन किया है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है और कोई भी भाषा दर्शन उसकी अपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ सकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि पश्चिम में विकसित हो रहे इस भाषा दर्शन को भारतीय भाषा दर्शन के सन्दर्भ में देखा व परखा जाये। आशा है कि भाषा दर्शन की इन प्राचीन और अर्वाचीन पद्धतियों के माध्यम से मानव सत्य के द्वार को उद्घाटित कर सके।



१. (अ) भगवतीसूत्र १२।२।

(ब) विभज्यवाद : समकालीन भाषाविश्लेषणदर्शन का पूर्वरूप—डॉ० सागरमल जैन—परामर्श खण्ड ६
अंक ४ पृ० ३५६।

परिशिष्ट 'क'

प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों की अर्थ वाचकता

मीमांसकों और वैयाकरणिकों की यह मान्यता है कि केवल संस्कृत शब्द ही सम्यक् शब्द हैं और उन्हीं में अपने अर्थ की वाचक-शक्ति है। प्राकृत, अपभ्रंश आदि अन्य लोकभाषाओं के शब्दों में अर्थ के प्रतिपादन की सामर्थ्य नहीं है। इन विचारकों की यह भी मान्यता है कि प्राकृत, अपभ्रंश आदि लोकभाषाओं के शब्दों को सुनकर प्रथम संस्कृत शब्दों का स्मरण होता है और फिर उनसे अर्थबोध होता है। इस प्रकार ये विचारक केवल संस्कृत को छोड़कर अन्य सभी भाषाओं और बोलियों में अर्थप्रतिपादन की शक्ति को नहीं मानते हैं। इसके विरोध में जैन दार्शनिकों का कहना है कि सभी लोकभाषाओं और बोलियों के शब्दों में वाचक-शक्ति होती है। जैन दार्शनिक प्रभाचंद्र ने अपने ग्रन्थ न्यायकुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड में अनेक तर्कों के आधार पर इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जिस प्रकार संस्कृत ग्रन्थों में वाचकशक्ति है उसी प्रकार प्राकृत, अपभ्रंश आदि लोकभाषाओं के शब्दों में भी वाचकशक्ति है। यह मानना भी समुचित प्रतीत नहीं होता है कि लोकभाषा के शब्दों को सुनकर प्रथमतः हमें उनके संस्कृत पर्यायवाची शब्दों का बोध होता है या स्मरण होता है और फिर उन संस्कृत शब्दों के स्मरण के माध्यम से अर्थ का बोध होता है। यदि इस अवधारणा को स्वीकार किया जायेगा तो फिर वे लोग जो संस्कृत भाषा को नहीं जानते हैं अर्थबोध कर ही नहीं पायेंगे। जब कि व्यवहार के क्षेत्र में हम स्पष्टरूप से इस बात को जानते हैं कि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ लोग भी लोकभाषाओं के शब्दों के माध्यम से अर्थबोध करते हैं और अपना व्यवहार चलाते हैं। वस्तुतः शब्द को सुनकर उसमें अर्थबोध प्राप्त करने के लिए संकेत ही मुख्य तत्त्व है। जिस शब्द का जिस अर्थ में जिन लोगों ने संकेत ग्रहण कर लिया है उन्हें उन शब्दों से उस अर्थ का बोध हो जाता है—यह भाषा का साधारण नियम है। यदि केवल संस्कृत शब्दों में ही वाचक-शक्ति होती तो फिर संसार में अनेकों भाषाएँ न तो जन्म लेतीं और न तो उनसे लोक-व्यवहार ही चलता। इस संबंध में जैन दार्शनिकों ने जो व्यापक दृष्टिकोण अपनाया वह निश्चित ही सराहनीय है और हमें एक संकुचित मनोवृत्ति से ऊपर उठाता है। जैन आचार्यों ने सदैव इस बात पर बल दिया है कि अर्थबोध की जितनी सामर्थ्य लोकभाषाओं में होती है उतनी संस्कारित भाषाओं में भी नहीं होती। यही कारण था कि जैनधर्म में तीर्थंकरों और आचार्यों ने लोकभाषा को ही अपने प्रवचन का माध्यम बनाया। केवल संस्कृत के शब्दों में ही वाचकशक्ति मानना तथा उन्हीं के उच्चारण से पुण्य की प्राप्ति मानना यह वर्गस्वार्थ और पक्षव्यामोह की भावना से ग्रसित है और आज इससे उपर उठकर उदारता का परिचय देना आवश्यक है।

विस्तृत विवेचन हेतु देखें—(अ) न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ७६२, (ब) प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६६८, (स) जैन दर्शन, पृ० २८१-२८६, (द) जैन न्याय, पृ० २७३-२७७ .

परिशिष्ट 'ख'

वचन के पैंतीस विशिष्ट गुण या अतिशय कहे गये हैं (समवायांग ३५)—

१. संस्कारतत्त्व—वचनों का व्याकरण से संस्कारित होना ।
२. उदात्तत्व—वचनों का उच्चस्वर वाला होना ।
३. उपचारोपेतत्व—वचनों का अग्राम्य होना ।
४. गम्भीरशब्दत्व—वचनों का मेघ के समान गम्भीर होना ।
५. अनुनादित्व—वचनों का अनुनाद से युक्त होना ।
६. दाक्षिणत्व—वचनों का सरल होना ।
७. उपनीतरागत्व—वचनों का यथोचित राग-रागिणी से युक्त होना ।
८. महार्थत्व—वचनों का महान् अर्थवाला होना ।
९. अव्याहृतपौवर्षियत्व—वचनों का पूर्वापर-अविरोधी होना ।
१०. शिष्टत्व—वचनों का शिष्ट होना ।
११. असन्दिग्धत्व—वचनों का सन्देह-रति निश्चित अर्थ का प्रतिपादक होना ।
१२. अपहृतान्योत्तरत्व—वचनों का अन्य पुरुष के द्वारा निकाले जाने वाले दोषों से मुक्त होना ।
१३. हृदयग्राहित्व—वचनों का हृदय-ग्राही होना ।
१४. देश-कालाव्यतीत्व—वचनों का देश-काल के अनुकूल/अवसरोचित होना ।
१५. तत्त्वानुरूपत्व—वचनों का विवक्षित वस्तु-स्वरूप के अनुरूप होना ।
१६. अप्रकीर्ण प्रसूतत्व—वचनों का निरर्थक विस्तार से रहित सुसम्बद्ध होना ।
१७. अन्योन्यप्रग्रहीत—वचनों का परस्पर सापेक्ष पदों से युक्त होना ।
१८. अभिजातत्व—वचनों का वक्ता की कुलीनता और शालीनता का सूचक होना ।
१९. अतिस्निग्ध मधुरत्व—वचनों का स्नेह और मधुरता युक्त होना ।
२०. अपरमर्मभेदित्व—वचनों का पर मर्म-भेदी न होना ।
२१. अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व—वचनों का अर्थ और धर्म के अभ्यास से प्रतिबद्ध होना ।
२२. उदारत्व—वचनों का तुच्छता रहित और उदारता युक्त होना ।
२३. परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्व—वचनों का पर-निन्दा और आत्म प्रशंसा से रहित होना ।
२४. उपगतश्लाघत्व—वचनों का श्लाघनीय (जिन्हें सुनकर लोग प्रशंसा करें) होना ।
२५. अनपनीतत्व—वचनों का काल, कारक, लिङ्ग, आदि के व्याकरण-दोषों से रहित होना ।
२६. उत्वादिताच्छिन्नकौतूहलत्व—वचनों का श्रोताजनों में कौतूहल उत्पन्न करने वाला होना ।
२७. अद्भुतत्व—वचनों का आश्चर्यकारक होना ।
२८. अनतिविलम्बितत्व—वचनों का धारा प्रवाही होना ।
२९. विभ्रमादिविमुक्तत्व—वचनों का मन की भ्रान्ति, विक्षेप और रोष, भयादि से रहित होना ।
३०. अनेकजातिसंश्रयाद्विन्नित्व—वचनों का अनेक प्रकार से वर्णन करने वाला होना ।
३१. आहितविशेषत्व—वचनों का सामान्य वचनों की अपेक्षा कुछ विशेषता-युक्त होना ।
३२. साकारत्व—वचनों का पृथक्-पृथक् वर्ण, पद, वाक्य के आकार से युक्त होना ।
३३. सत्वपरिग्रहत्व—वचनों का साहस से परिपूर्ण होना ।
३४. अपरिखेदितत्व—वचनों का खेद—खिन्नता से रहित होना ।
३५. अब्युच्छेदत्व—वचनों का विवक्षित अर्थ का सम्यक् सिद्धि करने वाला होना ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- अङ्गुत्तर निकाय—सम्पा० भिक्षु जगदीश काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार सरकार), १९६०
अनुयोगद्वारसूत्रम्—श्री मणिलाल करमचन्द, श्री केसरबाई ज्ञानमन्दिर, नगोनाभाई हाल, पाटण
(उत्तर गुजराज), १९३९
- अपोहसिद्धि (रत्नकीर्ति)—अनुवादक : गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, राजस्थान
अभिधान राजेन्द्र—श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय, श्री जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम, प्रथम
संस्करण; १९१३
- आचारांग—व्याख्याकार—श्री आत्मारामजी महाराज; आचार्य श्री आत्मारामजी जैनागम
प्रकाशन समिति, जैन स्थानक लुधियाना; प्रथम प्रवेश; १९६४
- आवश्यक निर्युक्ति—हरिभद्रीय वृत्ति ।
- कठोपनिषद्—उपनिषत्संग्रहः (भागद्वयोपेतः) मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर,
दिल्ली-७; प्रथम संस्करण; १९७०
- केनोपनिषद्—उपनिषत्संग्रहः (भागद्वयोपेतः) मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर,
दिल्ली-७, प्रथम संस्करण; १९७०
- काव्य प्रकाश—व्याख्याकार: आचार्य विश्वेश्वर; प्रथम संस्करण, १९६० ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
वाराणसी
- जैन तर्क भाषा—उपाध्याय यशोविजय, श्री त्रिलोक रत्न धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी
जैनदर्शन—डा० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, तृतीय संस्करण १९७४ श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन
ग्रन्थमाला, वाराणसी-५
- जैन न्याय—पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-५
- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—भाग १, पं० बेचरदास, प्रथम संस्करण, पार्श्वनाथ विद्याश्रम
शोध संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५
- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश—जैनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-५
- तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—सम्पादक : पं० मनोहरलाल, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; प्रथम संस्करण;
१९१८
- तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, विवेचक पं० सुखलाल जी संघवी (तृतीय संस्करण) पार्श्वनाथ विद्याश्रम
शोध संस्थान, वाराणसी-५
- तैत्तिरीयोपनिषद्—उपनिषत्संग्रहः (भागद्वयोपेतः) मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर-
नगर दिल्ली-७; प्रथम संस्करण; १९७०
- दीर्घनिकाय—सम्पा० भिक्षु जगदीश काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार सरकार) १९५८
- धवला—वीरसेन अमरावती, प्रथम संस्करण ।
- नन्दिसूत्र—सम्पादक : मुनि श्री फूलचन्द्रजी श्रमण, आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
लुधियाना (१९६६)

१०४ : जैन भाषादर्शन

- न्यायकुमुदचन्द्र—सम्पादक : पं० महेन्द्रकुमार जैन, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, होराबाग, गिरगाँव, बम्बई; प्रथम आवृत्ति; १९४१
- पंचसंग्रह—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण; १९६०
- पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति—संशोधक—पं० मनोहरलाल; श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात), तृतीय आवृत्ति; वि० सं० २०२५
- प्रज्ञापना—(श्यामाचार्य विरचित) अनु०—पं० भगवानदास हर्षचन्द्र, शारदा भवन जैन सोसाइटी अहमदाबाद सं० १९९१
- प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार (वादिदेवसुरिकृत)—विवेचक—पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, आत्मजागृति कार्यालय, श्री जैन गुरुकुल शिक्षण संघ, व्यावर (राज०) प्रथम संस्करण १९४२
- प्रमेयकमलमार्तण्ड—सम्पा० पं० महेन्द्र कुमार शास्त्री, (द्वितीय संस्करण) निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९४१
- प्रश्नव्याकरणसूत्र—(हिन्दी-व्याख्या—पं० हेमचन्द्र जी म०) सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी आगरा-२ भगवद्—सं० आचार्य तुलसी एवं मुनि नथमल; जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान)
- भगवती आराधना—सम्पादक—पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर ।
- भगवती सूत्र—अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना
- भाषातत्त्व और वाक्यपदीय—डा० सत्यकाम वर्मा, भारतीय प्रकाशन-नई दिल्ली १८
- भाषारहस्यप्रकरण (यशोविजय) श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, राजनगर (अहमदाबाद), वि० सं० १९९७
- भाषा विज्ञान—भोलानाथ तिवारी, किताब महल, ५६-ए जीरोरोड, इलाहाबाद १९६१
- माण्डूक्योपनिषद्—उपनिषत्संग्रहः (भागद्वयोपेतः) मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-७; संस्करण प्रथम; १९७०
- मज्झिमनिकाय—सम्पा०—पी० वी० बापट, भिक्षु जगदीश काश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार सरकार) १९५८
- मीमांसाश्लोकवार्तिक—व्याख्याकार—पं० दुर्गाधर झा, कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार); प्रथम आवृत्ति; १९७९ ।
- राजवार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक)—सम्पादक—प्रो० महेन्द्रकुमार जैन; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम आवृत्ति; १९५३
- वाक्यपदीय—भर्तृहरि, (गुजराती अनुवाद—जयदेव भाई मो० शुक्ल) लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद १९८४
- विभज्यवादः समकालीन भाषा विश्लेषणदर्शन का पूर्व रूप—लेखक डॉ० सागरमल जैन, परामर्श, दर्शन विभाग, पूना विश्वविद्यालय, पूना
- विशेषावश्यकभाष्य—हेमचन्द्राचार्य वृत्ति सहित, आगमोदय समिति ४२६, झावेरी बाजार, बम्बई १९२४
- सन्मतितर्क—पं० सुखलाल संघवी, पं० बेचरदास दोसी—विट्ठलदास मगनलाल कोठारी, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

- समकालीन पाश्चात्य दर्शन—सम्पादक डा० लक्ष्मी सक्सेना, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ,
द्वितीय संस्करण; १९८३
- समवायांग (समवाओ)—सम्पादक—युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान),
प्रथम संस्करण, १९८४
- सर्वार्थसिद्धि—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण; १९५५
- सिद्धिविनिश्चय—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण; १९५१
- स्थानांगसूत्र—सम्पा० श्री मिश्रीमलजी महाराज (मधुकर) आगम प्रकाशन समिति, जैन स्थानक,
पोपलिया बाजार, व्यावर (राज०) १९८१
- स्याद्वादमञ्जरी—सम्पादक डा० जगदीशचन्द्र जैन (तृतीय आवृत्ति), परम श्रुतप्रभावकमण्डल,
श्रीमदराजचन्द्र आश्रम, अगास
- स्याद्वादरत्नाकर—(वादिदेवसूरिविरचित) सम्पा० मोतीलाल लाघाजी १९६ भवानी पेठ, पूना वीर०
सं० २४५४
- Indian Logic—By Dr. B. N. Singh, Asha Prakashan, D 43/20 Sadanand Bazar,
Varanasi, First Edition, 1982.
- Jaina Theory of Reality and Knowledge—Y. J. Padmarajiah, Jain Sahitya Vikas
Mandal, 112, Ghodbunder Road, Vile Parle, Bombay-56; 1963 A. D.
- Pali-English Dictionary—Edited by T. W. Rhys Davids, The Pali Text Society,
London 1921
- Philosophical Investigation—Ludwig Wittgenstein, Basil Blackwell, Oxford 1972
- (The) Problem of Meaning in Indian Philosophy—R. C. Pandeya, Motilal
Banarasidass, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi-6 (First Edition) 1963
- (The) Philosophy of Word and Meaning—Gaurinath Sastri 1st. Edition 1959
Sanskrit College, 1 Bankim Chatterge, Street, Calcutta 6.
- Tractatus Logico Philosophicus Ludwig Wittgenstein.



शब्द-सूची

अंगुत्तरनिकाय	९, १०, ११	आकांक्षा	६७
अक्षर श्रुत	१७, १८	आकृतिवाद	५५
अक्षरात्मक भाषा	१२	आख्यातपद	६०
अनक्षर सूत्र	१७	—ही वाक्य है	६०
अनक्षरात्मक भाषा	१२, २०	आख्यातिक नाम	४०
अनुयोगद्वारसूत्र	५, ३९, ४०, ४१, ४२	आचारांग	५, ८३, ८५
अपर्याप्त भाषा	९१	आत्माभिव्यक्ति	१
अपोहवाद	५, ५२	—का साधन भाषा	१
—की समालोचना	५३	आदानपद नाम	४१
अपोहसिद्धि	५२	आवश्यकनियुक्ति	८
अप्राप्यकारी	३३	इस्लाम	१३
अभयदेव	२४	ईसाई	१३
अभिधानराजेन्द्र	३०	उच्चरित-शब्द	३२
अभिसमय	५७	उच्चरित-वसित-शब्द	३२
अभिहितान्वयवाद	६६, ६९, ७१	उत्तराध्ययन	३३
—की समीक्षा	६८-७०	उपचित-अवयवपद	४२
अरस्तू	४	उपयोगितावादी सिद्धान्त	८७
अर्थ-आदेश	४९	उमास्वाति	१
अर्थक्रियाकारीसिद्धान्त	८७	ऋजुसूत्रनय	७५
अर्थ-परिवर्तन	४९	ऋषभदेव	१२
अर्थविज्ञान	५	एअर, ए० जे०,	८९
अर्थ-विस्तार	४९	एकांशवाद	९
अर्थसंकोच	४९	एवंभूतनय	७६
अद्धमागधी	१४	औपसर्गिकनाम	४०
अवयवपद	४२	कठोपनिषद्	८३
अवियोज्य सम्बन्ध	३०	कथन की सत्यता	८७, ८८
अव्याकृतवाद	९	काव्यप्रकाश	६९
असत्य-अमृषा भाषा (कथन)	९६	कुमारिल भट्ट	६६, ६८, ६९
—के प्रकार	९६	केनोपनिषद्	८३, ८४
असत्य भाषा	९३	पं० कैलाशचन्द्र जी	४६
—के प्रकार	९३	क्रमवाद	६३
आइन्स्टीन	९९	गोम्मटसार	६५

गोविन्दचन्द्र पाण्डेय	५२	नैगमनय	७४
गौण्यपद नाम	४१	नैपातिक	४०
गौतम	१२	नैयायिक	१३, १४, ३३, ३४, ३५, ४५, ५१
चित्र-सिद्धान्त	५७	नोगौण्यपद नाम	४१
जमाली	५, ६, ७, ८	न्याय-दर्शन	४, १३
जयन्ति	११, ९९	न्यायसूत्र	५८
जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण	१८, २१	न्यायकुमुदचन्द्र	५, ३६, ४५, ४६, ४७, ४८, ५०, ५२
जैनतर्कभाषा	१६, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८	पञ्चसंग्रह	१७
जैन दर्शन (डॉ० महेन्द्र कुमार)	५२, ५९, ८१	पतञ्जलि	४, ३०, ५०
जैनन्याय (पं० कैलाशचन्द्र जी)	३६, ३७, ४५, ४६, ४७, ५०, ५२	पद का स्वरूप	५७
जैन साहित्य का बृहद् इतिहास	१८, १९	पद्मराजे (डॉ०)	८४
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश	१८, २९, ३१, ४१	परतः प्रामाण्यवाद	८७
ढंक कुम्भकार	८	पराघात	३२
तत्त्वार्थवार्तिक	५	प्रज्ञापनासूत्र	१२, १३, २५, २७, २८, ३१, ९०, ९३, ९४, ९६
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	५६	पर्याप्त-भाषा	९१
तत्त्वार्थसूत्र	१, १५, १६, २८, ३३, ७३, ७७, ७८	पर्यायार्थिकनय	७३
तदुत्पत्ति सम्बन्ध	४७	पाणिनि	४
तद्रूपता सम्बन्ध	४७	पारमार्थिक प्रत्यक्ष	८८
तात्पर्य	६७	पूज्यपाद	५
तादात्म्य-सम्बन्ध	३०	प्रतिपक्षपद नाम	४१
तार्किक-अणु	१००	प्रभाकर	६९, ७१
तार्किक-विश्लेषणवादी	४६	प्रभाचन्द्र	५, ५०, ५९, ६०, ६३, ६४, ६५, ६८
तैत्तिरीयोपनिषद्	८३, ८४	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	३५, ५८ ८८
द्रव्य-निक्षेप	७८	प्रमाणपद	४२
द्रव्यार्थिकनय	७३	प्रमेयकमलमार्तण्ड	५, ३६, ४४, ५०, ५२, ५९, ६०, ६२, ६८, ७०
धवला	१२, १९, २०, २९, ४१, ५८	प्रयोग-सिद्धान्त	४९
ध्वनितरंग	३१	प्रश्नव्याकरण सूत्र	९३
नय	७३	प्राधान्यपद नाम	४२
नव-रस	४१	प्रायोगिक	२८, २९
नाम-निक्षेप	७७	प्रियदर्शना	८
नामपद	३९, ४२	प्लेटो	३
निक्षेप	७३	बकाले	४
निश्चयनय	७३	बुद्ध	९, ११, ९९, १००
नेमिचन्द्र	८५		

१०८ : जैन भाषादर्शन

बुद्धधाकार	५६	ललितविस्तर	२६
बेचरदास (पं०)	१९	लिपि	२४
बौद्ध	५, ३३, ३६, ५२, ५३	—अठारह	२४
ब्राह्मी लिपि	२४	—चौसठ	२६
भगवतीसूत्र	५, ६, ७, १०, ११	लुड्विग विट्गैन्स्टन	३, ४९, ५७
भगवतीआराधना	८९, ९२, ९३	वाक्य—	
भर्तृहरि	३०, ३४, ४३,	वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्नमत	५९,
भाव-निक्षेप	७८		६०
भाषा		वाक्यपदीय	३०, ३४, ४३, ४४, ६०
—की उत्पत्ति	१३	वाच्य-वाचक सम्बन्ध	४७
—ईश्वर सृष्टि नहीं	१४	वादिदेव सूरी	५८, ८७, ८८
—सादि या अनादि	१४	वासित-शब्द	३२
—की सापेक्षता	९८	विभज्यवाद	९, ९९
भाषातत्त्व और वाक्यपदीय	४३, ५० ६०	विशेषावश्यकभाष्य	१५, १६ १८, २०, २२,
भाषारहस्य प्रकरण	३२		२३, २५, २७ ८५, ९८
भाषा-विज्ञान,	२, १४	वीचितरंगन्याय	३१
भाषा-विश्लेषण	२, ३, ५	वैयाकरण-दर्शन	३६
—वाद	१००	वैयाकरणिक	३५, ६३
भोलानाथ तिवारी	१४	वैससिक-शब्द	२८
मज्झिमनिकाय	९, १०	व्यञ्जनाक्षर	२२
मलयगिरि	१८	व्यवहार नय	७३, ७५
महावीर	६, ७, ८, ९, ११, १२, १००	व्यावहारिक प्रत्यक्ष	८८
(डॉ) महेन्द्र कुमार	८१	शब्द	
माणिक्यनन्दी	५	—की परिभाषा	३०
माण्डूक्योपनिषद्	८३	—के प्रकार	२९
मातृकाक्षर	२४	—की आणविक संरचना	३४
मीमांसक	१३, ४४, ४५, ४८, ५१, ५६	—की पौद्गालिकता	३३
मीमांसा दर्शन	४, ३६, ६९, ८१	—की अनित्यता	३६
मीमांसा श्लोकवार्तिक	६६	—के वाच्यार्थ का निर्धारण	३८
यलुप्पा शास्त्री	२६	—की संकेतिक शक्ति	३८
यशोविजय	३२, ७७	—की सहजयोग्यता	३८
योग्यता	६७	—का वाच्यार्थ से सम्बन्ध	४७
राजवार्तिक	८२, ९२	—और उसके वाच्यार्थ सम्बन्ध की अनित्यता	४८
(डॉ) राजेन्द्र प्रसाद	२६	—का वाच्य सामान्य या विशेष	४४
लघोयस्त्रयी	७३, ७७	—का पद और वाक्य से अन्तर	५८
लब्ध्याक्षर	२२		

शब्द ब्रह्म	५	सांख्य	३६
शब्द नय	७४, ७५	सापेक्षिक सत्य	९९
शब्दाद्वैतवादी	१३	सिद्धिविनिश्चय	७४
श्रुतज्ञान	१५	सुकरात	३
संगति-सिद्धान्त	८७	(प०) सुखलाल जी	१६
संग्रहनय	७४	स्थानांग	५, ९
संज्ञा-अक्षर	२२	स्थापनानिक्षेप	७८
संवादिता-सिद्धान्त	८७	—तदाकार	७८
सत्ता की वाच्यता	८२	—अतदाकार	७८
सत्य भाषा	९१	स्फोट	१३, ५०
—के भेद	९१	स्फोटवाद	५०
सत्य-मृषा भाषा (कथन)	९४	—का खण्डन	५१
सन्निधि	६७	स्याद्वाद्	७३, ९९
सन्मतितर्क	७३	स्याद्वादमञ्जरी	७३
सप्तभंगी	७३, ८५, ९९	स्याद्वादरत्नाकर	३५, ५९, ६०
समकालीन भाषा-दर्शन	९	स्वतःप्रामाण्यवाद	८७
समभिरूढ़ नय	७६	हरिभद्र	१८
समय (परम्परा)	३८	हरिभद्रीय वृत्ति	८
समवायांग	१४, २५, २७	हेमचन्द्र मल्लधारगच्छीय	२७
सर्वार्थसिद्धि	१८, १९, ७४		



